दिसंबर 2001

मूल्य : सात रुपये

कुरुक्षेत्र

ग्रामीण विकास को समर्पित

उत्तरांचल पर विशेष सामग्री

पंचायती राज में दलित सशक्तीकरण

संचार माध्यम ग्रामोन्मुखी हों - वेंकैया नायडू

एक जीवंत लोकतंत्र में मीडिया की भूमिका से हम सब अवगत हैं। लेकिन मीडिया का झुकाव शहरों की तरफ है। गांव उसकी प्राथमिकता में नहीं हैं। पत्रकारों को अपना दृष्टिकोण बदलकर गांववासियों की समस्याओं पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए। गांववालों की कठिनाइयों पर ध्यान न देना अनुचित है। इससे विकास नीतियों का मुख्य जोर और फोकस शहरों की ओर उन्मुख हो जाता है। अतः संचार माध्यमों को विकासात्मक समाचारों पर अधिक ध्यान देना चाहिए। यह हर्ष का विषय है कि इस प्रवृत्ति में अब बदलाव आ रहा है। यह आपकी उत्साहपूर्ण भागीदारी से पुष्ट होता है। जन संचार माध्यमों पर बड़ी सामाजिक जिम्मेदारी होती है। अतः जितनी जल्दी हो सके संचार माध्यमों की अभिजात्य छवि को बदल देना चाहिए। ग्रामीण भारत और शहरी भारत के बीच जो दूरी है उसे पाटने में केवल सरकारी और गैर सरकारी एजेंसियों की ही नहीं, बल्कि मीडिया की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। यह विचार ग्रामीण विकास मंत्री श्री एम. वेंकैया नायडू ने सामाजिक मुद्दों पर तीन-दिवसीय संपादक सम्मेलन का उद्‌घाटन करते हुए व्यक्त किए।

श्री नायडू ने कहा कि जल्दी ही एक राष्ट्रीय पंचायती राज सम्मेलन आयोजित किया जाएगा जिसमें निचले स्तर पर और अधिक अधिकार दिए जाने पर ध्यान केंद्रित किया जाएगा। यह अखिल भारतीय पंचायती राज सम्मेलन अपनी तरह का पहला सम्मेलन होगा।

(शेष कवर तीन पर)

सामाजिक मुद्दों पर त्रिदिवसीय संपादक सम्मेलन के उद्‌घाटन सत्र को संबोधित करते हुए केंद्रीय ग्रामीण विकास मंत्री श्री एम. वेंकैया नायडू

कुरुक्षेत्र

ग्रामीण विकास मंत्रालय की
प्रमुख मासिक पत्रिका

वर्ष : 47 ● अंक : 2
अग्रहायण–पौष 1923
दिसंबर 2001

कार्यकारी संपादक
राकेश रेणु
उप संपादक
जयसिंह

संपादकीय पत्र–व्यवहार
संपादक, कुरुक्षेत्र
कमरा नं. 655/661, 'ए' विंग,
गेट नं. 5, निर्माण भवन
ग्रामीण विकास मंत्रालय
नई दिल्ली–110011
दूरभाष : 3015014, फैक्स : 011–3015014
तार : ग्राम विकास

संयुक्त निदेशक (उत्पादन)
डी.एन. गांधी
विज्ञापन व्यवस्थापक
पी.सी. आहूजा
आवरण
सर्वेश
फोटो सौजन्य
आईईसी डिवीजन, ग्रामीण विकास मंत्रालय

मूल्य एक प्रति : सात रुपये
वार्षिक शुल्क : 70 रुपये
द्विवार्षिक : 135 रुपये
त्रिवार्षिक : 190 रुपये
विदेशों में (हवाई डाक द्वारा)
पड़ोसी देशों में : 500 रुपये (वार्षिक)
अन्य देशों में : 700 रुपये (वार्षिक)

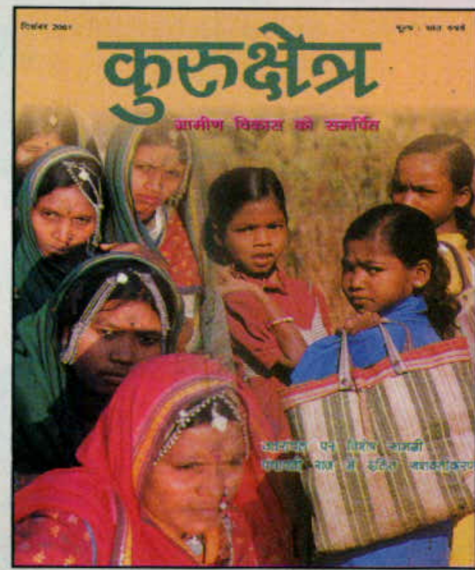

इस अंक में

लेख

- पंचायती राज व्यवस्था में दलितों का सशक्तीकरण — डा. राजमणि त्रिपाठी — 4
- कठिन दौर में पातल निर्माण व्यवसाय — डा. ओ.पी. अग्रवाल — 9
- उत्तरांचल का विकास — डा. दलीप सिंह — 13
- पर्वतीय क्षेत्रों में पारंपरिक प्रबंधन व्यवस्था जलागम का मूल आधार — जयप्रकाश पंवार — 17
- उत्तरांचल की जलागम परियोजनाओं पर एक नजर — – — 18
- ग्रामीण सड़क व्यवस्था — डा. संदीप कुमार — 20
- ग्रामीण विकास में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों का योगदान — डा. नरेंद्रपाल सिंह — 23
- सहकारिता और महिला सशक्तीकरण — रेणु अरोड़ा — 27
- ग्रामीण क्षेत्रों में तकनीकी हस्तांतरण और साक्षरता — गिरिजा सतीश — 28
- किसानों द्वारा विकसित तकनीकी और उनका उपयोग — डा. शिवाधार सिंह — 30
- गांवों में पॉलीथिन प्रदूषण — डा. उमेश चंद्र अग्रवाल — 39
- ओड़ ग्राम पंचायत ने रचा विकास का नया इतिहास — डा. महेश प्रसाद दुबे — 43

साहित्य

- एक संभावना का अंत (कहानी) — डा. रामेश्वर द्विवेदी — 34
- दो कविताएं — मिथिलेश श्रीवास्तव — 38

स्वास्थ्य

- अमृतफल आंवला — डा. विजय कुमार उपाध्याय — 44

पुस्तक चर्चा

- राष्ट्रभाषा हिंदी पर कुछ विचार — डा. निशांत सिंह — 47

कुरुक्षेत्र की एजेन्सी लेने, ग्राहक बनने और अंक न मिलने की शिकायत के बारे में विज्ञापन और प्रसार प्रबंधक, प्रकाशन विभाग, पूर्वी खंड–4, लेवल–7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली–110 066 से पत्र–व्यवहार करें। विज्ञापनों के लिए विज्ञापन प्रबंधक, प्रकाशन विभाग, पूर्वी खंड–4, लेवल–7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली–110 066 से संपर्क करें। दूरभाष : 6105590, फैक्स : 6175516

कुरुक्षेत्र में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं। यह आवश्यक नहीं कि सरकारी दृष्टिकोण भी वही हो।

मत–सम्मत

सूचना प्रौद्योगिकी : गांवों में नई क्रांति

अक्तूबर 2001 के *कुरुक्षेत्र* में ग्रामीण विकास के लिए प्रौद्योगिकी पर वार्षिकांक समयानुकूल व प्रासंगिक लगा।

आज सूचना का युग है। गौरतलब है कि सूचना तकनीक का इस्तेमाल दिन–प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। पूरा विश्व आज एक 'ग्लोबल विलेज' की अवधारणा में सिमट गया है। सतत विकास के लिए सूचना प्रौद्योगिकी का श्रेष्ठतम प्रयोग करना लाजिमी है, लेकिन यह प्रयोगधर्मिता तभी संभव व सफल है जब लोगों पर तकनीकें थोपने की बजाय उन्हें भागीदार उनका बनाया जाए। लेकिन विडंबना की पराकाष्ठा देखिए कि देश में फैले 5 लाख 50 हजार 781 गांवों में रह रहे लगभग 75 करोड़ आबादी का दो–तिहाई हिस्सा आजादी के 54 वर्ष बाद भी 'एज ऑफ रिजन' में न जी कर 'एज ऑफ फेथ' में जी रहा है। कहने का तात्पर्य कि अभी भी ज्यादातर लोग तकनीकी विकास और विस्तार की अहमियत तथा वैज्ञानिक सोच विकसित नहीं कर पाए हैं। बिहार के गांवों की स्थिति और भी बदतर है जहां के मुसहर जाति के लोग कंप्यूटर का 'माउस' ड्राइव करने की बजाय बिलों में छिपे चूहों को पकड़ने में ही जिंदगी गंवाने के लिए विवश हैं।

गांवों में खेत–खलिहानों में सूचना प्रौद्योगिकी की अहमियत है और वर्तमान उदारीकरण के माहौल में तकनीकी प्रगति व ग्रामीण विकास हेतु भारतीय संविधान की धारा 243–जी के अनुसार सामाजिक न्याय की योजनाएं और 11वीं अनुसूची के अंतर्गत संचालित ग्रामीण विकास कार्यक्रमों में सूचना प्रौद्योगिकी को सम्मिलित करते हुए 10वीं पंचवर्षीय योजना (2002) में इसे कार्यरूप देना होगा क्योंकि एक बड़ी आबादी को नजरअंदाज कर हम समग्र क्रांति की बात नहीं सोच सकते।

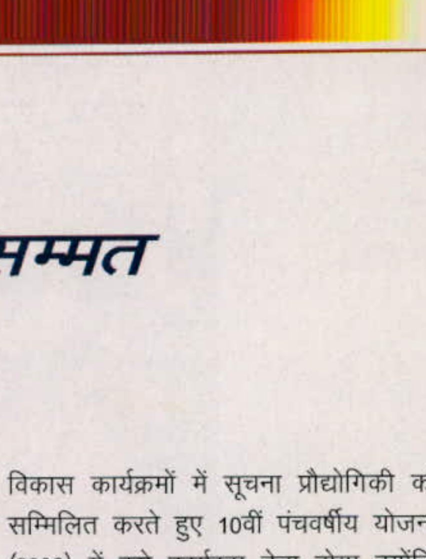

इस कार्यक्रम को पंचायत स्तर पर लागू किया जाना चाहिए। केवल नई–नई योजनाओं की घोषणा, ग्रामीण क्षेत्रों को नए–नए लुभावने शब्दों के मकड़जाल से अलंकृत करते हुए, पुराने ढर्रे पर ही उनको चलाने से निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति होना संभव नहीं है।

हर्षवर्द्धन कुमार
आशियाना गैलेक्सी
एक्जीविशन रोड, पटना–1

ग्रामसभाओं के आयोजन में विफलता

पंचायती राज व्यवस्था के अंतर्गत ग्रामसभाओं का अपना विशिष्ट महत्व है। यह लोकतंत्र में जनसाधारण की महत्वपूर्ण भूमिका तथा सहभागिता को दर्शाता है। यह अवधारणा ग्राम स्वराज्य को साकार करती है।

परंतु पंचायती राज व्यवस्था के अंतर्गत जिन ग्रामसभाओं के आयोजन किये जा रहे हैं, वे अपना लक्ष्य पूरा करने में भली–भांति सफल नहीं हो पा रहे हैं। इसके मुख्य रूप से निम्न कारण सामने आते हैं :

1. ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा, विशेषतः महिला शिक्षा का अभाव, 2. राज्य की कल्याणकारी योजनाओं और उनके प्रभाव में जागरूकता का अभाव, 3. ग्रामसभा की सफलता अथवा विफलता की समीक्षा का अभाव, 4. ग्राम पंचायत की स्थाई समितियों का निष्क्रिय रहना, 5. ग्राम पंचायत के पदाधिकारियों का राजनैतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए विषम भाव से कार्य करना, 6. विधिवत रिकार्ड संधारण का अभाव, 7. प्रशासनिक तंत्र में संवेदनशीलता तथा पारदर्शिता का अभाव, 8. सामाजिक विषमता के कारण प्रभावी वर्ग की उपस्थिति में ग्रामसभाओं के प्रति कमजोर वर्ग तथा महिलाओं की अरूचि, 9. ग्रामसभाओं का आयोजन हर बार पंचायत मुख्यालय पर होने के कारण पंचायत के अन्य गांवों के निवासियों की समुचित भागीदारी का अभाव, 10. वार्ड सभाओं के समुचित रिकार्ड संधारण का अभाव, 11. आर्थिक संसाधनों की कमी के कारण जन आकांक्षाओं के अनुरूप ग्रामीण विकास कार्य पूर्ण न कराये जाने पर जन भागीदारी का अभाव, 12. स्वशासन की अवधारणा – जनता का, जनता द्वारा, जनता के लिए – के भाव का अभाव और 13. ग्रामसभा को यह विश्वास दिलाए जाने का अभाव कि जिम्मेदारी के दायरे में उसके द्वारा लिया गया निर्णय किसी प्राधिकृत अधिकारी अथवा राज्य सरकार द्वारा भी परास्त नहीं किया जा सकता है।

पंचायत स्तर पर गठित स्थायी समितियों को भली–भांति प्रशिक्षित कर उन्हें उत्तरदायित्वपूर्ण कर्तव्यों के प्रति जागरूक किया जाना चाहिए और ग्राम पंचायत के प्रत्येक कार्य का संचालन इन स्थायी समितियों के माध्यम से संचालित कराया जाना चाहिए। इन स्थायी समितियों के अध्यक्ष एवं सदस्यों को ग्रामसभा के समक्ष उनके द्वारा निष्पादित

कार्यों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने और सामाजिक अंकेक्षण कराने तथा ग्रामसभा से अनुमोदित कराने का दायित्व वैधानिक रूप से सौंपा जाना चाहिए।

यदि ग्राम पंचायत तथा पंचायत समिति स्तर पर उपरोक्त वर्णित कारणों के समभाव से निराकरण के उपाय पूर्ण निष्ठा के साथ किए जाएं, ग्रामसभा के आयोजन में सरपंच द्वारा अनैतिक तरीके से लोगों को लालच देकर बुलाने की प्रवृत्ति को निरुत्साहित कर पारदर्शिता अपनाकर कार्य किए जाएं तो ग्रामसभा के आयोजन में जनसहभागिता बढ़ेगी और ग्रामसभा अपनी भूमिका अदा करने में सफल रहेगी।

दयाराम बमणिया
मालवीय नगर
जयपुर

पर्यावरण प्रदूषण के प्रभाव

मैं *कुरुक्षेत्र* का नियमित पाठक हूं। अक्तूबर 2001 का वार्षिकांक पाकर मन प्रफुल्लित हो उठा। यह आयोजन पठनीय होने के साथ-साथ अतुलनीय और संग्रहणीय भी है। इस पत्रिका के सभी लेख न केवल ग्रामीण विकास को समर्पित होते हैं बल्कि ये अत्यंत ही महत्वपूर्ण, ज्ञानवर्द्धक, उत्साहवर्द्धक, प्रेरणाप्रद, बहुआयामी व बहुउपयोगी होते हैं। सच कहता हूं, यह पत्रिका हमारे ग्रामीण समाज की लक्ष्मण बूटी है, इसकी प्रशंसा करने के लिए मेरे पास पर्याप्त शब्द नहीं हैं।

अक्तूबर अंक (वार्षिकांक) में कटार सिंह का आलेख 'प्रौद्योगिकी, पर्यावरण एवं विकास' पढ़ने से पता चला कि पर्यावरण की परिस्थितियां मानव जीवन को कितनी व्यापक रूप से प्रभावित करती हैं। आज से लगभग 500 वर्ष पहले भारतवर्ष में 80 प्रतिशत वन क्षेत्र था। जबकि आज केवल 11 प्रतिशत वन क्षेत्र ही बचा है और विश्व में प्रति मिनट लगभग 22 हेक्टेयर वन क्षेत्र का सफाया हो रहा है। सिमटते वनों का सीधा प्रभाव पर्यावरण पर पड़ता है। यदि यही स्थिति रही तो धरती की जल ग्रहण क्षमता का क्या होगा? निश्चय ही पर्यावरण प्रदूषण एक सार्वभौम समस्या है और स्वयं मानव के भविष्य से जुड़ी है। अतः समग्र मानवता के सुखद भविष्य के लिए इस पर तत्काल नियंत्रण समय की मांग है। यह ऐसा मुद्दा है जिसके मामले में राजनीति नहीं होनी चाहिए। यदि धरती को बचाना है, यदि उसकी हरीतिमा को सुरक्षित रखना है, यदि मानव जीवन को बचाना है, सुस्थिर विकास की प्रक्रिया अबाध गति से जारी रखनी है तो संपूर्ण मानव जाति को एक साथ मिलकर प्रयास करना ही होगा। अगर हम ऐसा नहीं

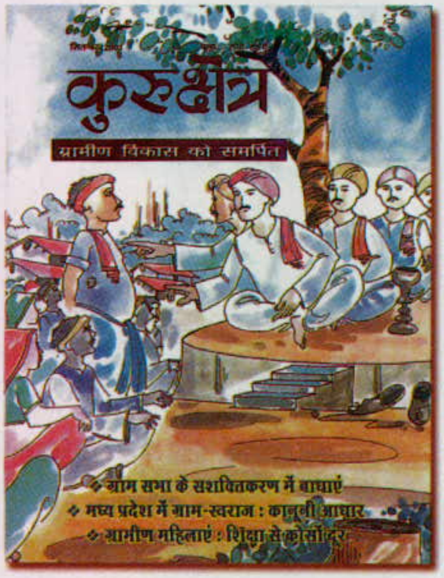

करते हैं तो निःसंदेह अपने खात्मे को मौन आमंत्रण देने जा रहे हैं। आशा की जानी चाहिए कि समग्र मानवता की सुरक्षा के लिए इस गंभीर समस्या पर हम सभी गंभीरता से विचार करेंगे।

चंद्र किशोर जायसवाल
प्रताप गंज
सुपौल, (बिहार)

संकल्प शक्ति से समाज सुधार

कुरुक्षेत्र का सितंबर 2001 अंक पढ़ा। कहानी 'नया आशियाना' यह दर्शाती है कि यदि कोई भी व्यक्ति दृढ़ संकल्पित होकर कार्य करे तो उसकी सफलता निश्चित है। यद्यपि प्रारंभ में उसको कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है। गंगा मात्र नाम न होकर एक संकल्प की भावना है। यदि समाज में गंगा जैसी नारियां हों तो समाज का विकास संभव है। नारी परिवार और समाज का आधार स्तंभ होती है। प्रत्येक नारी यदि गंगा बनने का प्रयास करे तो देश से अशिक्षा, गरीबी, मद्यपान आदि सभी बुराइयां निश्चित ही समूल नष्ट हो जाएंगी।

इसके अतिरिक्त ग्रामीण विकास हेतु शैक्षणिक कार्यक्रम समस्याएं एवं निदान शीर्षक लेख ज्ञानवर्धक है। यदि प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति एक अशिक्षित को शिक्षा देने का कार्य करे तो संपूर्ण साक्षरता के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। लेखकद्वय के सुझावों पर सरकार को ध्यान देना चाहिए।

भूपाल दत्त भट्ट
सब्जीमंडी
इलाहाबाद-211002

कुछ सुझाव

मैं विगत तीन वर्षों से ग्रामीण विकास को समर्पित *कुरुक्षेत्र* पढ़ता आ रहा हूं। यह पत्रिका बेहद ज्ञानवर्धक तथा उपयोगी है। इसे और उपयोगी बनाने हेतु मैं निम्न सुझाव देना चाहता हूं :

- ग्राम विकास को समर्पित किसी एक सामाजिक कार्यकर्ता – जैसे अन्ना हजारे आदि – उनकी कार्यप्रणाली, उनके सामने आई समस्याएं तथा उनके समाधान के लिए किए गए प्रयासों पर प्रत्येक अंक में एक स्थाई स्तंभ प्रारंभ करें जिससे सामाजिक कार्य के क्षेत्र में आने वाले लोगों को प्रेरणा मिल सके तथा उन्हें जानकारी प्राप्त हो सके।
- 'ग्रामीण क्षेत्र के लिए तकनीक' नामक स्तंभ के माध्यम से किसी एक यंत्र तकनीक की विस्तृत जानकारी चित्रों, रेखाचित्रों आदि के साथ दें जिससे ग्रामीण अपने प्रयास से उन्हें अपना सकें, जैसे बायोगैस संयंत्र, कंपोस्ट, छोटी पनचक्की आदि।
- 'स्वावलंबी कैसे बना गांव' नामक स्तंभ भी आरंभ किया जा सकता है ताकि दूसरे ग्रामीणों को भी मिलजुलकर अपनी समस्याएं हल करने का हौसला तथा रास्ता मिल सके।

जगबीर सिंह मान
विद्युतनगर एनटीपीसी
गौतमबुद्ध नगर-201008

पंचायती राज व्यवस्था में दलितों का सशक्तीकरण

डा. राजमणि त्रिपाठी

आरक्षण प्रणाली में वर्णित नियमावली के आधार पर ग्राम स्तरीय पंचायतों में दलित वर्ग के प्रतिनिधियों को कार्य करते लगभग सात वर्ष बीत चुके हैं किंतु आज भी दलित वर्गों की स्थिति में कोई खास परिवर्तन नहीं आया है। ऐसे में यह जांचा जाना सर्वथा उपयुक्त होगा कि पंचायती राज व्यवस्था में इन वर्गों की स्थिति और नेतृत्व क्यों प्रभावी नहीं हो पा रहा है।

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान गांधीजी ने दलितों की स्थिति में सुधार लाने का आह्वान किया था और समस्त भारतीयों से इस बात की अपील की थी कि रूढ़िगत परंपराओं के फलस्वरूप दलित वर्ग पर जो अमानुषिक और दमनमूलक अयोग्यताएं थोप दी गई हैं, जिनके कारण उन्हें पग–पग पर असंख्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, उनके निवारण के लिए आवश्यक कदम उठाए जाएं। दलित वर्गों को बेहतर जीवन–यापन हेतु संगठित करने, उनकी सामाजिक आर्थिक एवं मानसिक उन्नति करने, उनके बच्चों को शिक्षा प्राप्ति हेतु स्कूलों में भेजने के लिए प्रोत्साहित करने तथा अन्य जातियों की भांति उन्हें भी समुचित सुविधाएं उपलब्ध कराने की पहल की जाए।

गांधीजी की इन भावनाओं के अनुरूप भारतीय संविधान निर्माताओं ने दलितों के आर्थिक और सामाजिक पिछड़ेपन को दूर करने हेतु आरक्षण का प्रावधान किया था। इस दलित आरक्षण की उम्र 51 वर्ष हो चुकी है। इसके परिणामस्वरूप दलितों में शिक्षा, रोजगार और अन्य सुविधाओं से लाभ उठाने की दिशा में अच्छी पहल हुई तथा उन्हें काफी हद तक सफलता भी मिली है।

इसी बात को ध्यान में रखकर 73वें संविधान संशोधन के माध्यम से ग्राम पंचायतों में भी आरक्षण प्रणाली लागू की गई जिससे दलितों को पंचायतों में भी प्रतिनिधित्व का अवसर प्राप्त हो सका। पंचायती राज व्यवस्था के अंतर्गत पंचायतों के तीनों स्तरों पर सदस्यों और अध्यक्ष के पदों हेतु पहली बार कुल निर्धारित पदों पर दलितों की जनसंख्या के अनुसार आरक्षण की व्यवस्था की गई। आरक्षण की व्यवस्था इसलिए की गई थी ताकि पंचायती राज में समाज के दलित और कमजोर वर्ग को समुचित प्रतिनिधित्व मिल सके और उनकी सच्ची भागीदारी से ग्राम स्वराज का सपना पूरा हो सके।

इसमें कोई संदेह नहीं कि विगत वर्षों में जिन राज्यों में पंचायती राज व्यवस्था के अंतर्गत चुनाव हुए उन सभी राज्यों में इस आरक्षण से कमजोर वर्गों के प्रतिनिधि बहुत बड़ी संख्या में चुने गए और ग्रामीण नेतृत्व के लिए आगे आए जैसाकि सारणी से स्पष्ट होता है।

पंचायतों में मिले आरक्षण से दलित समाज का थोड़ा उभार तो हुआ है पर स्थानीय स्तर पर उन्हें तरह–तरह से नियंत्रित करने के प्रयास किए जा रहे हैं। पंचायत में समाज के इन दलित समूहों की भागीदारी की नई प्रक्रिया से वह स्थितियां बदली हैं जिनके चलते डा. भीमराव अंबेडकर ने पंचायती राज का विरोध किया था। पर वे स्थितियां इतनी भी नहीं बदली हैं कि गांधी का ग्राम स्वराज आ जाए। इसीलिए सामंती, पुरुष प्रधान और जातिवादी समाजों में पंचायतों की नई प्रणाली सत्ता संघर्ष, टकराव और हिंसा का नया बहाना बन गई है। विशेषकर 1992 के पंचायती राज कानून से दलितों के सशक्तीकरण की प्रक्रिया अवश्य शुरू हुई लेकिन इसका एक दूसरा पक्ष भी देखने को मिलता है कि दलित पंचों और सरपंचों की सामाजिक स्थिति में कोई सुधार नहीं आया और उन्हें पहले जैसी ही अवमानना की दृष्टि से देखा जाता है।

सच तो यह है कि आज भी दलित महिला और पुरुष सरपंचों का न तो अपना कोई अस्तित्व बन पाया है और न सत्ता में सीधे भागीदारी ही हो पाई है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि दलित सशक्तीकरण के नाम पर दलित वर्ग इस प्रक्रिया की एक कड़ी अवश्य बन रहे हैं।

मध्य प्रदेश के टीकमगढ़ जिले के बलदेवगढ़ तहसील अंतर्गत अत्यंत पिछड़ा एक गांव काफी दिनों तक चर्चा का विषय बना रहा। चर्चा के केंद्र में एक दलित महिला सरपंच थी जिसे स्वतंत्रता दिवस के अवसर पर टीकमगढ़ जिला मुख्यालय में उसी गांव के दबंग और असरदार लोगों ने झंडा फहराने से रोक दिया, क्योंकि वह समाज के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रही थी जो पिछड़ों में भी पिछड़ा और निरक्षर तथा अस्तित्वविहीन था। सच तो यह है कि आज भी दलित महिला और पुरुष सरपंचों का न तो अपना कोई अस्तित्व बन पाया है और न सत्ता में सीधे भागीदारी ही हो पाई है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि दलित सशक्तीकरण के नाम पर दलित वर्ग इस प्रक्रिया की एक कड़ी अवश्य बन रहे हैं।

दलितों के बारे में सर्वेक्षण भी यह बताते हैं कि मुख्यरूप से आरक्षित पदों पर वे ही दलित चयनित हो कर आते हैं जिनके ऊपर ग्रामीण क्षेत्र के सवर्ण बाहुबलियों का प्रभाव होता है। पंचायती राज संस्थाओं की औपचारिक बैठकों में ग्रामीण समाज के ये बाहुबली दलित मुखौटा प्रतिनिधियों द्वारा अपना स्वार्थ साधते हैं। इस प्रकार जब पंचायती राज के माध्यम से दलितों का अपना नेतृत्व नहीं उभरेगा, बल्कि बाहुबलियों के स्थापित नेतृत्व का ही पारिवारिक विस्तार होगा, तो क्या पंचायतें प्रभावशाली लोगों की संस्थाएं बनकर नहीं रह जाएंगी? ऐसी स्थिति में सत्ता का विकेंद्रीकरण नहीं बल्कि उसके केंद्रीकरण का एक और माध्यम निकल आएगा। ऐसी पंचायतें स्थानीय स्तर पर लोगों की समस्याएं हल नहीं कर सकेंगी। इस वजह से पंचायती राज संस्थाओं की सार्थकता पर प्रश्नचिन्ह लग सकता है।

जिला, प्रखंड और ग्राम स्तरीय पंचायतों में बहुत बड़ी संख्या में दलित वर्ग के प्रतिनिधि चुने गए हैं जिन्हें अपने क्षेत्रों में विकास योजनाएं बनाने और उसे क्रियान्वित करने का दायित्व सौंपा गया है। उक्त आरक्षण प्रणाली में वर्णित नियमावली के आधार पर ग्राम स्तरीय पंचायतों में दलित वर्ग के प्रतिनिधियों को कार्य करते लगभग सात वर्ष बीत चुके हैं किंतु आज भी दलित वर्गों की स्थिति में कोई खास परिवर्तन नहीं आ पाया है। ऐसे में यह जांचा जाना सर्वथा उपयुक्त होगा कि पंचायती राज व्यवस्था में इन वर्गों की स्थिति और नेतृत्व क्यों प्रभावी नहीं हो पा रहा है। शोध और सर्वेक्षण बताते हैं कि आमतौर पर आरक्षित पदों पर चयनित प्रतिनिधि प्रशिक्षण के अभाव, जातीय आत्मबल की कमी, सामाजिक–पारिवारिक पिछड़ापन,

पंचायतों में अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के सदस्य

राज्य / केंद्र शासित प्रदेश	ग्राम पंचायत सदस्य			पंचायत समिति सदस्य			जिला परिषद सदस्य			अनुसूचित जाति / अनु. जनजाति के सदस्यों का प्रतिशत	
	अनु. जाति	अनु.जन जाति	कुल	अनु. जाति	अनु.जन जाति	कुल	अनु. जाति	अनु.जन जाति	कुल	अनु. जाति	अनु.जन जाति
आंध्र प्रदेश	38674	15304	53978	789	803	1592	128	66	194	15.93	6.31
अरुणाचल प्रदेश	—	5733	5733	—	1205	1205	—	77	77	0.47	63.68
असम	—	—	—	—	—	—	—	—	—	7.4	12.83
बिहार	—	—	—	—	—	—	—	—	—	14.56	7.66
गोवा	—	—	—	—	—	—	—	—	—	2.08	0.03
गुजरात	4739	9550	14289	279	561	840	57	114	171	7.41	14.92
हरियाणा	11793	—	11793	519	—	519	64	—	64	19.75	—
हिमाचल प्रदेश	3824	672	4496	280	74	354	48	14	60	25.34	4.22
जम्मू–कश्मीर	—	—	—	—	—	—	—	—	—	8.3	—
कर्नाटक	17918	7575	25993	601	169	770	165	47	212	16.38	4.26
केरल	1256	136	1392	179	17	196	30	4	34	9.92	1.1
मध्य प्रदेश	64997	132638	197635	1345	2780	4125	143	267	410	14.54	23.37
महाराष्ट्र	40766	35150	75916	409	453	862	206	232	438	11.1	9.27
मणिपुर	35	44	79	—	—	—	1	2	3	2.02	34.41
मेघालय	—	—	—	—	—	—	—	—	0.4	0.51	85.53
मिजोरम	—	—	—	—	—	—	—	—	—	0.1	94.75
नगालैंड	—	—	—	—	—	—	—	—	—		
उड़ीसा	7394	11823	9217	478	809	1287	85	131	216	16.2	22.21
पंजाब	—	—	—	338	—	338	84	—	84	28.31	—
राजस्थान	17902	15616	33518	943	804	1747	177	154	331	17.29	12.44
सिक्किम	40	298	338	—	—	—	8	40	46	5.93	22.36
तमिलनाडु	18886	686	19572	1258	41	1399	137	3	140	19.18	1.03
त्रिपुरा	1237	704	1941	48	26	74	15	7	22	16.36	30.95
उत्तर प्रदेश	101939	867	102806	9126	135	9261	389	7	396	21.04	0.21
पश्चिम बंगाल	13644	3319	16963	2354	582	2936	200	50	250	23.62	5.6
अंडमान और निकोबार द्वीप समूह	—	—	—	—	—	—			—	—	9.54
चंडीगढ़	—	—	—	—	—				—	16.51	—
दादरा नगर हवेली	3	103	106					11	11	1.97	78.99
दमन और दीव	1	17	18				1	3	4	3.83	11.54
दिल्ली	—	—	—	—				—	—	19.05	—
लक्षद्वीप	—	79	79	—				22	22	—	93.15
पांडिचेरी	—	—		—						16.25	—
कुल	343792	240178	583980	18867	8442	27309	1904	1247	3151	16.73	7.95

निर्धनता की व्यापकता और पुरानी वर्ण व्यवस्था के कारण विकास की दौड़ में पीछे रह जाते हैं। आज के संदर्भ में पंचायती राज व्यवस्था में सशक्त भूमिका निभाने के मार्ग में दलितों के सामने अनेक बाधाएं हैं जिनका उल्लेख नीचे किया जा रहा है।

शिक्षा की कमी

जहां शिक्षा का अभाव रहेगा वहां अज्ञान का अंधेरा छाया रहना स्वाभाविक है। विकास और प्रगति की अनेक बातें कही और सुनी जाने के बावजूद राज्य में विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों में, शिक्षा की दशा अभी भी बदतर ही कही जाएगी। मुख्यरूप से दलित वर्गों और महिलाओं की शिक्षा की दशा तो और भी खराब है। पंचायतों को ग्रामीण शिक्षा के विकास से संबंधित अनेक अधिकार प्राप्त हैं। पंचायतें ही अब शिक्षा समितियों के माध्यम से ग्रामीण शिक्षा की व्यवस्था तथा उससे संबंधित कार्यों का संचालन कर रही हैं। पंचायतों के लिए चुने गए कमजोर और दलित वर्गों के प्रतिनिधि गांव में फैली घोर निरक्षरता की भयावहता को कम करने की दिशा में भी अपनी भूमिका निभा रहे हैं। किंतु यह तभी संभव हो सकता है जब इस वर्ग से चुन कर आए पंचायत प्रतिनिधि स्वयं शिक्षित हों। शोध तथा सर्वेक्षण इस बात को प्रमाणित करते हैं कि दलित वर्गों की शिक्षा के वर्तमान स्तर को यदि आधार मान लिया जाए तो वर्तमान परिस्थितियों में जो दलित वर्ग के प्रतिनिधि चुनकर पंचायतों में आए हैं उनमें शिक्षा का सामान्य स्तर काफी नीचे है तथा बड़ी संख्या में वे निरक्षर भी हैं। वे ग्राम विकास के कार्यों से संबंधित अभिलेखों को पढ़ने और समझने में सक्षम नहीं हैं। ऐसी स्थिति में ये प्रतिनिधि विकास संबंधी कार्यों की योजना तैयार करने तथा उन्हें क्रियान्वित करने में स्वाभाविक रूप से समर्थ नहीं हैं।

विकास कार्यक्रमों की अनभिज्ञता

ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों का निर्धारण और क्रियान्वयन एक गंभीर चिंतन का विषय है। पंचायती राज व्यवस्था से यह अपेक्षा थी कि ग्राम पंचायतें अपने क्षेत्र के विकास संबंधी कार्यक्रम स्वयं तैयार करेंगी और उनका क्रियान्वयन भी खुद ही करेंगी। यह व्यवस्था लागू करते समय यह मान लिया गया था कि जो प्रतिनिधि चुनकर आएंगे वे विकास से संबंधित विषयों की पहचान करने तथा उससे संबंधित कार्यक्रम बनाने में समर्थ होंगे। किंतु बड़ी संख्या में चुनकर आए हुए प्रधान, उप प्रधान तथा पंचायत सदस्यों के पास ऐसी पृष्ठभूमि नहीं है कि वे इस प्रकार के कार्यों में समर्थ हों। ऐसे में पंचायतों के प्रतिनिधियों में

ग्रामीण राजनीति में नेतृत्व की सामाजिक और पारिवारिक पृष्ठभूमि की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती है। ग्रामीण नेता का महत्व उसके व्यक्तिगत गुणों से कम और पारिवारिक ख्याति और शक्ति से अधिक होता है। जिस नेता का परिवार गांव में प्रभावशाली होता है वह नेता ग्रामीण राजनीति में शक्तिशाली होता है। यदि नेता का परिवार गांव में शक्तिशाली तथा महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखता है तो उस नेता को अपेक्षाकृत कम महत्व प्राप्त होगा।

प्रभावशाली तथा सरकारी अधिकारियों/कर्मचारियों के अधीन होकर कार्य करने की प्रवृत्ति देखी जा रही है। परिणामस्वरूप गांव की आवश्यकताओं के अनुरूप विकास कार्य न होकर सरकारी अधिकारियों और प्रभावशाली लोगों के स्वार्थों की पूर्ति के आधार पर कार्यक्रम क्रियान्वित किए जा रहे हैं जो पंचायती राज व्यवस्था में दलित वर्गों के नेतृत्व को सुदृढ़ बनाने के मूल उद्देश्य पर एक प्रहार है।

दलितों में व्याप्त निर्धनता

वास्तव में गरीबी सभी बीमारियों की जननी है। पंचायतों में गरीबी से संबंधित दो पक्ष हैं। प्रथम, संपूर्ण ग्रामीण क्षेत्र की गरीबी, दूसरे, पंचायत में चुने गए अध्यक्ष, महिला प्रतिनिधियों, खासकर दलित और कमजोर वर्गों की गरीबी। इससे पता चलता है कि कमजोर वर्ग के जो प्रतिनिधि पंचायतों के नेतृत्व हेतु चुन कर आए उनकी आर्थिक स्थिति संतोषजनक नहीं है। कमजोर वर्ग की महिला प्रतिनिधियों को वित्तीय समस्या की वजह से अपने परिवार का पालन–पोषण करने के लिए कृषि कार्य अथवा दूसरों के यहां मजदूरी पर जाना पड़ता है। उनका कहना है कि यदि वे पंचायत के कार्यों में व्यस्त हो जाएंगी तो उनके परिवार का पालन–पोषण कौन करेगा। यदि सरकार उन्हें आर्थिक सहायता वेतन आदि दे तभी वे पंचायत की बैठकों में जा सकेंगी और पंचायत प्रतिनिधि के रूप में सफल भूमिका निभा सकेंगी।

सामाजिक–पारिवारिक पिछड़ापन

ग्रामीण राजनीति में नेतृत्व की सामाजिक और पारिवारिक पृष्ठभूमि की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती है। ग्रामीण नेता का महत्व उसके व्यक्तिगत गुणों से कम और पारिवारिक ख्याति और शक्ति से अधिक होता है। जिस नेता का परिवार गांव में प्रभावशाली होता है वह नेता ग्रामीण राजनीति में शक्तिशाली होता है यदि नेता का परिवार गांव में शक्तिशाली तथा महत्वपूर्ण स्थान नहीं रखता है तो उस नेता को अपेक्षाकृत कम महत्व प्राप्त होगा। अध्ययन से ज्ञात होता है कि पंचायतों का नेतृत्व संभालने के लिए जो दलित और कमजोर वर्ग से प्रतिनिधि चुन कर आए हैं उनकी शैक्षिक तथा आर्थिक स्थिति सुदृढ़ नहीं प्रतीत होती जिससे कहा जा सकता है कि उनके परिवार भी गांव में प्रभावशाली नहीं हैं। इस प्रकार दलित वर्ग अपने सामाजिक–पारिवारिक पिछड़ेपन के शिकार बन गए हैं। ऐसी स्थिति में दलित और कमजोर वर्गों के लोग जो पंचायतों के नेतृत्व में अपनी सहभागिता निभा रहे हैं वह प्रभावपूर्ण नहीं हैं। प्रभावहीन नेतृत्व

कभी भी सबल नहीं हो सकता।

आत्मबल की कमी

सामान्यतः दलित और कमजोर वर्ग के सदस्य प्रायः अशिक्षित तथा कम पढ़े–लिखे होते हैं, निम्न जातियों के होते हैं, निम्न आर्थिक स्तर पर जीवन–यापन करते हैं। वे शोषण, कुपोषण तथा आसानी से सामाजिक हिंसा के शिकार हो जाते हैं। इनके व्यवहार में आत्मविश्वास की कमी, उदासीनता, निर्भरता, अनुरूपता तथा संगठन का अभाव जैसी दुर्बलताएं पाई जाती हैं जिसका लाभ सरकारी अधिकारी और गांव के प्रभावशाली लोग उठा रहे हैं। विशेषकर ग्रामीण विकास कार्य के लिए जो धन पंचायतों को उपलब्ध कराया गया है उस धनराशि का एक बहुत बड़ा भाग ग्रामीण विकास के कार्यों के अतिरिक्त सुख–सुविधाओं पर व्यय किया जा रहा है। गांव के सबल गांव के विकास संबंधी कार्यों को अपनी इच्छानुसार चला रहे हैं। दलित तथा कमजोर वर्गों में आत्मबल की कमी के कारण वे भ्रष्टाचार जैसे अनैतिक कार्यों में समुचित हस्तक्षेप नहीं कर पा रहे हैं बल्कि कुंठा के शिकार हो रहे हैं।

प्रशिक्षण की कमी

73वें संविधान संशोधन के बाद आवश्यकता इस बात की थी कि देहाती क्षेत्रों के नेतृत्व हेतु चुनकर आए दलित वर्गों के प्रतिनिधियों को पंचायती राज से संबंधित संवैधानिक और कानूनी प्रावधानों से अवगत कराया जाता। विकास के क्षेत्र में हो रहे विभिन्न कार्यों की उन्हें जानकारी दी जाती। उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त उन्हें सभा संचालन की विधि और लेखा रख–रखाव, आदि का भी गहन प्रशिक्षण मिलना चाहिए था ताकि दलित वर्गों के प्रतिनिधि अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करने में समर्थ बन पाते।

निष्कर्ष

पंचायतों में आरक्षण की व्यवस्था इसलिए की गई थी कि ग्रामीण स्वशासन में दलितों

सामान्यतः दलित और कमजोर वर्ग के सदस्य अशिक्षित तथा कम पढ़े–लिखे होते हैं, निम्न जातियों के होते हैं, निम्न आर्थिक स्तर पर जीवन–यापन करते हैं। वे शोषण, कुपोषण तथा सामाजिक हिंसा के शिकार आसानी से हो जाते हैं। इनके व्यवहार में आत्मविश्वास की कमी, उदासीनता, निर्भरता, अनुरूपता तथा संगठन का अभाव जैसी दुर्बलताएं पाई जाती हैं जिसका लाभ सरकारी अधिकारी और गांव के प्रभावशाली लोग उठा रहे हैं।

तथा समाज के कमजोर वर्गों की भागीदारी बढ़े जिससे ग्राम स्वराज का सपना साकार हो सके और उन्हें अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने का मौका मिल सके। इसमें कोई संदेह नहीं कि विगत सात वर्षों में आरक्षण के कारण दलितों को ग्रामीण नेतृत्व में भागीदारी निभाने का सुनहरा अवसर मिला है पर इस एक बात से पता चलता है कि सत्ता का विकेंद्रीकरण और पंचायती राज की रट लगाने वाले हमारे नेता और नौकरशाह समाज के दलित और कमजोर वर्गों के लोगों को स्वशासन में सहभागी और शक्तिमान बनाने के प्रति कितने गंभीर और संवेदनशील हैं। गत वर्षों में केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों द्वारा दलितों के विकास के लिए अनेक कार्यक्रम चलाए गए, परंतु अभी भी समाज का एक बड़ा भाग मौलिक सुविधाओं के अभाव में ही जी रहा है। शिक्षा, स्वास्थ्य, पौष्टिक आहार, रहने के लिए मकान और पीने के लिए पानी के मामले में दलित वर्गों की स्थिति दूसरों की अपेक्षा दयनीय बनी हुई है।

भारतीय संविधान में एक ऐसे समाज की परिकल्पना की गई है जो सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, प्रतिष्ठा और अवसर की समानता पर आधारित है और राज्य को यह उत्तरदायित्व सौंपा गया कि वह सभी जातियों और धर्मों के बीच भाईचारे की भावना को बढ़ाने के लिए उचित प्रयास करे। दलितों को देश और समाज की मुख्यधारा से जोड़ना देश की एकता और अखंडता के लिए अत्यंत आवश्यक है। यह तभी संभव है जब दलित वर्गों में पाई जाने वाली आर्थिक और सामाजिक असमानताओं को शिक्षा के माध्यम से दूर किया जाए। तभी दलित समाज स्वाभिमानी और सम्मानित नागरिक बनाने में समर्थ हो सकेगा। ❑

**गोविंद वल्लभ पंत
सामाजिक विज्ञान संस्थान,
झूसी, इलाहाबाद (उ.प्र.)**

लेखकों से

कुरुक्षेत्र के लिए मौलिक लेख, कहानी, कविताएं आदि भेजिए। रचना दो प्रतियों में टाइप की हुई हो और उसके साथ मौलिकता का प्रमाण–पत्र संलग्न हो। अस्वीकृत रचना लौटाने के लिए कृपया डाक टिकट लगा और अपना पता लिखा लिफाफा लगाएं। रचनाएं संपादक, **कुरुक्षेत्र**, कमरा नं. 655 / 661, विंग 'ए' गेट नं. 5, निर्माण भवन, ग्रामीण विकास मंत्रालय, नई दिल्ली–110011के पते पर भेजें।

कठिन दौर में पातल निर्माण व्यवसाय

डा. ओ.पी. अग्रवाल

स्वतंत्रता के बाद भारत सरकार के समक्ष महत्वपूर्ण कार्य देश के आर्थिक विकास को तीव्रतर कर रोजगार के अधिकतम अवसर उपलब्ध कराना था। इस कार्य को करने के उद्देश्य से पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से आर्थिक विकास को गति प्रदान कर रोजगार के अवसर बढ़ाने का विचार कार्य रूप में परिणत किया गया। देश में जहां एक ओर वृहद उद्योगों की स्थापना पर जोर दिया गया वहीं लघु और कुटीर उद्योगों को भी पर्याप्त महत्व प्रदान किया गया। सन् 1977 में केंद्र सरकार द्वारा घोषित औद्योगिक नीति पूरी तरह लघु एवं कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहित करने वाली थी। गरीबी उन्मूलन के लिए शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों के लिए विभिन्न योजनाएं बनाई गईं और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बैंकों से विशेष भूमिका निर्वाह करने का आग्रह किया गया। पर एक वर्ग जिन्हें हम आदिवासी कहते हैं, इन प्रयत्नों के लाभों से सर्वथा वंचित रहा है।

एक तो निरक्षर और भोले–भाले आदिवासी सरकारी योजनाओं का लाभ उठाने में पीछे रहे, दूसरे पर्यावरण सुरक्षा और वन विकास पर आधारित वन नीति ने इनके परंपरागत रोजगार को वन क्षेत्रों से पलायन करने हेतु बाध्य कर दिया। मध्य प्रदेश के आदिवासी जो प्रदेश में अच्छी–खासी संख्या में हैं, इस नीति से सर्वाधिक प्रभावित हुए हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है कि वर्तमान आर्थिक नीतियों का दुष्परिणाम सबसे ज्यादा इन आदिवासियों को झेलना पड़ेगा क्योंकि पूंजीवादी विकास नीतियों में वन विनाश की संभावनाएं ज्यादा रहेंगी। विडंबना यह है कि इस तथ्य को विस्मृत किया जा रहा है कि आदिवासियों का वनों से निकट का रिश्ता रहा है और वनों पर आधारित छोटे–छोटे कुटीर उद्योगों को चलाकर वे अपना जीवन–यापन करते हैं।

प्रस्तुत आलेख में अध्ययन का आधार मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले में आदिवासियों द्वारा चलाए जा रहे पातल निर्माण कुटीर उद्योग को बनाया गया है। मध्य प्रदेश में कुल जनसंख्या का 23.3 प्रतिशत आदिवासी हैं।

प्रदेश के दक्षिण क्षेत्र में स्थित होशंगाबाद जिले की जनसंख्या का 17.4 प्रतिशत भाग आदिवासी जनसंख्या का है। ये आदिवासी 'कोरकू' कहलाते हैं। ये कोरकू आदिवासी सतपुड़ा पर्वतमाला में स्थित छोटे–छोटे गांवों में निवास करते हैं। सतपुड़ा पर्वतमाला होशंगाबाद जिले के आधे से अधिक दक्षिणी भाग को समेटे हुए है। कोरकू आदिवासी अपनी जीविका के लिए सदियों से वनों पर आश्रित रहे हैं। प्रकृति ने सतपुड़ा पर्वतमाला के वन क्षेत्र को इतना समृद्ध किया है कि ये वर्षभर अपनी जीविका चला सकते हैं।

सतपुड़ा अंचल में पातल निर्माण कुटीर उद्योग अनेक आदिवासियों की जीविका का साधन है। पातल जंगली पत्तों से बनी एक प्रकार की थाली है जिसकी मांग वर्षभर बनी रहती है। ब्याह तथा अन्य कार्यक्रमों में भोजन कराने के लिए इसकी आवश्यकता पड़ती है। यद्यपि शहरों में विवाह के अवसर पर भोजन के लिए अंग्रेजी पद्धति अपना ली गई है, कस्बों, देहातों और छोटे नगरों में पंगत के माध्यम से भोजन कराने की परंपरा आज भी जीवित है और विभिन्न अवसरों पर पातल में भोजन कराया जाता है। सतपुड़ा अंचल में एक काष्ठीय बेल पाई जाती है जो स्थानीय निवासियों द्वारा 'माहुल' के नाम से पुकारी जाती है। आदिवासी इसी माहुल के पत्तों से पातल का निर्माण करते हैं जो होशंगाबाद जिले के आदिवासियों का एक छोटा कुटीर उद्योग है। यह बेल भारत की लगभग सभी पहाड़ियों पर पाई जाती है। मध्य प्रदेश में यह अधिकतर होशंगाबाद, मांडला, छिंदवाड़ा तथा छत्तीसगढ़ में मिलती है।

माहुल प्रकृति का निःशुल्क उपहार है। इसका वानस्पतिक नाम बोहीनिया बहलाई है और यह बेल सीजल पीनेसी कुल की है। वनस्पति शास्त्री डा. प्रमोद खरे के अनुसार, देश के भिन्न–भिन्न क्षेत्रों मे इसे भिन्न–भिन्न नामों से जाना जाता है जैसे जालूर, मालघन, मालजन, माल–जहज, माहुल मालू, मौरेज मौलीन, मालवल, बेला, पाऊर, थाऊर, महालन मौल और सीहर।

माहुल एक लघु वानिकीय बहु–उपयोगी उत्पाद है। इसकी पत्तियां, छाल, बीज सभी आदिवासियों के लिए उपयोगी हैं। माहुल की पत्तियां द्विपातिक होती हैं तथा 2.5 सेंटीमीटर से 9 सेंटीमीटर तक बीच से पृथक और नीचे से संयुक्त होती हैं। पत्तियों का आकार 10 से 45 सेंटीमीटर तक होता है। माहुल की बेल बड़े वृक्षों के सहारे काफी ऊंचाई तक चली जाती है। इसकी पत्तियों से पातल, छाल से रस्सी और बीजों को भोजन के लिए आदिवासियों द्वारा प्रयोग किया जाता है। इसके बीजों का स्वाद काजू के समान होता है।

कस्बों, देहातों और छोटे नगरों में पंगत के माध्यम से भोजन कराने की परंपरा आज भी जीवित है और विभिन्न अवसरों पर पातल में भोजन कराया जाता है। सतपुड़ा अंचल में एक काष्ठीय बेल पाई जाती है जो स्थानीय निवासियों द्वारा 'माहुल' के नाम से संबोधित की जाती है। आदिवासी इसी माहुल के पत्तों से पातल का निर्माण करते हैं जो होशंगाबाद जिले के आदिवासियों का एक छोटा कुटीर उद्योग है।

'माहुल की बेल' आदिवासियों की आय का अच्छा साधन है। आदिवासियों द्वारा इससे दो तरह से आय प्राप्त की जाती है :

- माहुल की पत्तियों की 'जुंडी' बनाकर उसे निकटवर्ती बाजार, विशेषकर पर्वतीय पर्यटन स्थल पचमढ़ी के दुकानदारों को बेचना। एक "जुंडी" में 50 से 60 जुड़ी हुई पत्तियां होती हैं। इन पत्तियों से होटल, रेस्टोरेंट एवं पान की दुकानों में वस्तुओं को पैक कर बेचा जाता है।
- माहुल की पत्तियों से पातल निर्माण करना। पातल निर्माण उद्योग छोटा किंतु रोजगार मूलक कुटीर उद्योग है। आदिवासी महिलाओं के लिए यह रोजगार का अतिरिक्त साधन है। होशंगाबाद एवं छिंदवाड़ा जिले के रोरीघाट, आलमोत, कुचीखोह, माजरी, कांजी घाट, खामखेड़ी, झिला, बारीआम, पगारा, ढांचा, छुंजार, बतकछार पिसुआ, मोंगरा, आनंद ढाना, नयागांव, हरई आदि ग्रामों में आदिवासियों द्वारा पातल निर्माण कुटीर उद्योग चलाया रहा है। पंचमढ़ी के कुछ क्षेत्रों जैसे – भट्टा मोहल्ला, टोला, पोल जिला चुंगीनाका में भी पातल निर्माण का कार्य किया जा रहा है।

कच्चा माल

माहुल की पत्तियों से निर्मित पातल एक थाली का आकार लिए हुए होती है। आदिवासी बेलों से पत्तियों को तोड़कर पातल का निर्माण करते हैं। चार बड़ी अथवा छह छोटी पत्तियों का उपयोग एक पातल बनाने में किया जाता है। पत्तियों को सींकों से जोड़ते हैं जो वनों में किसी भी जंगली झाड़ी से प्राप्त कर ली जाती हैं या वन में उपलब्ध बांस से छोटी–छोटी सींक का निर्माण कर लिया जाता है। सींकें पतली एवं नुकीली होती हैं जो पिन के समान पातल में उपयोग की जाने वाली पत्तियों को आपस में जोड़ती हैं।

पातल निर्माण की तकनीक

पातल निर्माण की तकनीक अत्यधिक सरल है। दो जुड़ी हुई पत्तियों को खोलकर आपस में गोलाकार जमाया जाय तो वे थाली का आकार ले लेती हैं। फिर इन पत्तियों को पतली छोटी सींकों से जोड़ दिया जाता है। पत्तियों का चिकना भाग ऊपर और खुरदरा भाग नीचे रहता है। इस कुटीर उद्योग से जुड़े 94 वर्षीय श्री पिस्सु बान ने बताया कि कुटीर उद्योग में आदिवासियों का प्रवेश स्वतंत्रता के बाद हुआ। पहले वे माहुल की पत्तियों की जुंडी बनाकर बेचा करते थे। उन्होंने बतलाया कि पातल निर्माण की तकनीक थोड़े से प्रयत्नों से आदिवासी सीख गए हैं और उनके समुदाय में व्यापक रूप से इसे अपना लिया गया है।

पातल के सूखने पर उन पर पानी सींच दिया जाता है – जिससे वे पुनः नर्म हो जाती हैं और खराब नही होतीं। आदिवासी महिलाएं बड़ी कुशलता से पातल निर्माण का कार्य करती हैं।

मूल्य पद्धति

पातल निर्माण उद्योग में मूल्य निर्धारण की कोई पद्धति विकसित नहीं हुई है। ज्यों–ज्यों मुद्रास्फीति की दर में वृद्धि होती गई त्यों–त्यों हैं। एक ट्रक पातल बाहर भेजने पर ट्रक का भाड़ा मजदूरी एवं चुंगी भुगतान करने के बाद व्यापारी अपनी मेहनत का ही पारिश्रमिक प्राप्त कर पाता है।

विपणन विधि

पातल निर्माण कुटीर उद्योग की यह विशेषता है कि आदिवासी पातलों को सीधे उपभोक्ताओं को नहीं बेचते। व्यापारी पातलों को या तो आदिवासियों के गांवों से एकत्र

रोजगार की दृष्टि से महत्वपूर्ण किंतु समस्याग्रस्त

गरीब आदिवासियों के परंपरागत रोजगार के अवसर सीमित हो जाने के कारण उनका जीवन–यापन कठिन होता जा रहा है। पर्यावरण सुरक्षा और वन विकास की नीति ने उनके रोजगार के अवसर सीमित कर दिए हैं। पातल निर्माण कुटीर उद्योग आज निम्नांकित समस्याओं से जूझ रहा है :

पातल की मूल्य में वृद्धि होती गई। पंचमढ़ी एवं मठकुली के पातल खरीदने वाले छोटे–छाटे व्यापारियों ने बताया कि वर्तमान में वे कम से कम 40 रुपये और अधिकतम 50 रुपये प्रति हजार प्रति बंडल आदिवासियों को भुगतान करते हैं। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इस कुटीर उद्योग में आदिवासियों का शोषण नहीं होता है। व्यापारी इन पातल बंडलों को 60 रुपये से 70 रुपये प्रति बंडल के हिसाब से निकटवर्ती बाजारों में बेच देते

कर लेते हैं या आदिवासी इन व्यापारियों के यहां पातल के गठ्ठे (बंडल) पहुंचा देते हैं। आदिवासी एक बार में एक हजार पातल का एक गठ्ठा बनाते है। पातल का गठ्ठा बांधने के लिए माहुल की छाल से बनाई रस्सी का प्रयोग किया जाता है। एक गठ्ठे में 500 पातल सीधी और 500 पातल उल्टी रखी जाती हैं। इस प्रकार गठ्ठे बनाकर आदिवासी अपने झोपड़ों में इकट्ठा करते हैं और परिस्थिति के अनुसार उन्हें व्यापारी को बेच देते हैं।

- सतपुड़ा पर्वतमाला के वन अंचल में माहुल की लता की बहुतायत होने के बाद भी पातल कुटीर उद्योग में उपयोग होने वाला मुख्य कच्चामाल माहुल की पत्तियों की उपलब्धि कठिन हो गई है। इसका मुख्य कारण है कि होशंगाबाद जिले में तीन वन्य प्राणी संरक्षित क्षेत्र बनाए गए हैं जिनका क्षेत्रफल 1,427 वर्ग किलोमीटर है। आदिवासियों के अधिकतर गांव इस परिधि में आ गए हैं और उनके समक्ष गांवों से

बेदखली का संकट खड़ा हो गया है। वन्य प्राणी संरक्षित क्षेत्र होने के कारण वन विभाग द्वारा माहुल के पत्तों के संग्रह पर अघोषित रोक लगा दी गई है।

- वन संरक्षण अधिनियम 1980 ने भी आदिवासियों की मुश्किलों को बढ़ाया है। आदिवासियों द्वारा निस्तार के लिए वनोपज का उपयोग करने पर उन्हें अपराधी की श्रेणी में रखा गया है। इस अधिनियम के द्वारा आदिवासी हाशिये पर ढकेल दिए गए हैं। 'माहुल' के पत्तों की निकासी पर रोक से यह कुटीर उद्योग बंद होने के कगार पर पहुंच गया है।
- होशंगाबाद जिले के वन्य संरक्षित क्षेत्र को 'टाइगर प्रोजेक्ट' के अंतर्गत लाने की सरकार की योजना लगभग कार्य रूप में परिणित होने जा रही है। इस टाइगर प्रोजेक्ट के लागू होने पर 42 आदिवासी राजस्व गांव के निवासियों को गांव खाली करने पड़ेंगे। इस कारण आदिवासियों के कुटीर उद्योग बंद हो जाएंगे। यद्यपि सामाजिक कार्यकर्ता बड़ी शिद्दत से कोशिश कर रहे हैं कि आदिवासियों को अपने गांव खाली न करने पड़ें।
- सन् 1995 में विश्व बैंक द्वारा मध्य प्रदेश सरकार को विश्व वानिकी परियोजना के अंतर्गत 800 करोड़ रुपये के स्वीकृत ऋण की प्रथम किस्त प्राप्त हो चुकी है। इस ऋण ने अनेक समस्याओं को जन्म दिया है। विश्व बैंक इस क्षेत्र में सब्सिडी देने एवं वन क्षेत्र से निस्तार की सुविधाएं समाप्त करने हेतु निरंतर दबाव बनाए हुए है। इसी कारण वनोपज संग्रह के आदिवासियों के अधिकार सीमित किए गए हैं। आदिवासियों द्वारा चलाए जा रहे कुटीर उद्योगों के लिए कच्चा माल मिलना लगभग बंद हो गया है। पातल निर्माण कुटीर उद्योग आज चालू है पर निरंतर अवनति की ओर अग्रसर है। श्री पिस्सू बान के अनुसार, पहले इस क्षेत्र से रोज एक ट्रक पातल बाहर भेजी जाती थी पर आज मुश्किल से प्रति सप्ताह एक ट्रक पातल बाहर जा पाती है।
- पातल निर्माण कुटीर उद्योग के लिए अभी तक कोई वित्तीय सहायता प्रदान नहीं की गई है। क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक पंचमढ़ी का कार्य सराहनीय माना गया है, पर इस उद्योग को एवं आदिवासियों को कोई भी वित्तीय सहायता प्रदान नहीं की गई है।
- पातल निर्माण कुटीर उद्योग के क्षेत्र में सहकारिता का प्रवेश नहीं हो पाया है। आदिवासियों को इससे कोई लाभ नहीं हुआ है। मध्य प्रदेश आदिवासी सहकारी विकास निगम का दखल पातल निर्माण कुटीर उद्योग के क्षेत्र में नहीं हो पाया है यद्यपि पंचमढ़ी में निगम द्वारा शासित वन श्रमिक सहकारी समिति अस्तित्व में थी पर इससे भी पातल निर्माण कुटीर उद्योग के विकास में कोई सहायता नहीं मिली।

पातल निर्माण कुटीर उद्योग की प्रमुख समस्या कच्चे माल अर्थात माहुल की पत्तियों की उपलब्धि का संकट खड़ा होना है। यदि व्यावहारिक नीतियां अपनाकर माहुल की पत्तियों की उपलब्धि सरल बना दी जाय तो इस उद्योग को बचाया जा सकता है।

पातल निर्माण व्यवसाय का बचाव : कुछ सुझाव

निःसंदेह वनोपज पर आधारित छोटे–छोटे व्यवसाय चलाकर ये आदिवासी अपना जीवनयापन करते हैं। इन कुटीर उद्योगों के पतन से संपूर्ण आदिवासी समुदाय की स्थिति अत्यधिक दयनीय हो जाएगी। आदिवासियों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिए न केवल पातल कुटीर उद्योग को बचाना है वरन इसके विकास हेतु अपेक्षित प्रयत्न किया जाना भी आवश्यक है।

पातल निर्माण कुटीर उद्योग की प्रमुख समस्या कच्चे माल अर्थात माहुल की पत्तियों की उपलब्धि का संकट खड़ा होना है। यदि व्यावहारिक नीतियां अपनाकर माहुल की पत्तियों की उपलब्धि सरल बना दी जाय तो इस उद्योग को बचाया जा सकता है। भारत सरकार के वन मंत्रालय एवं पर्यावरण विभाग द्वारा वन संरक्षण अधिनियम, 1980 की समीक्षा आवश्यक है, क्योंकि अधिनियम की मनमाने ढंग से की गई व्याख्या ने आदिवासियों को वन विनाशक की भूमिका का निर्वाह करने वाली इकाई मान लिया है जबकि सतपुड़ा अंचल में आदिवासी सदियों से वृक्षों की पूजा और रक्षा करते आ रहे हैं। अंचल में स्थित गुफाओं में चित्रित शैलचित्र इसका प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इतिहासकार डी.एच. गार्डन ने इन शैलचित्रों का निर्माण काल 1,000 वर्ष पूर्व का माना है। इस सोच में बदलाव लाने की आवश्यकता है कि आदिवासी वन विनाश में सहयोग करते हैं। वास्तव में अंचल के वन विनाश के लिए स्वतंत्रता के बाद वनों का व्यावसायिक दोहन एवं लकड़ी माफियाओं का उदय ही सर्वाधिक दोषी है।

सतपुड़ा अंचल में राष्ट्रीय वन नीति, 1998 के अंतर्गत संयुक्त वन प्रबंधन की नीति को लागू किया जाए जिसमें आदिवासियों की भागीदारी प्रमुख हो। वन संरक्षित क्षेत्र एवं टाइगर परियोजना को स्थापित करने में किसी को कोई आपत्ति नहीं है पर इन परियोजनाओं को स्थापित करने के पूर्व यह निश्चित किया जाए कि आदिवासियों की गांवों से बेदखली न हो और उनके द्वारा चलाए जा रहे कुटीर उद्योगों को कच्चा माल निरंतर प्राप्त होता रहे। पातल निर्माण में प्रयुक्त कच्चेमाल माहुल की पत्तियों को तोड़ने से किसी प्रकार का वन विनाश नहीं होता और न ही पर्यावरण को कोई हानि होती है। अतः ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि जिससे कुटीर उद्योगों को कच्चे माल की पूर्ति स्वतंत्रापूर्वक होती रहे।

भारत के वन प्रांतों में आदिवासी आंदोलनों (नक्सलवादी आंदोलन) को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि वन अंचलों के निवासी आदिवासियों की आर्थिक स्थिति में सुधार किया जाय और उनके द्वारा चलाए जा रहे कुटीर उद्योगों को सरकारी और सामाजिक संरक्षण प्रदान किया जाय। ❑

उपाचार्य,
वाणिज्य विभाग,
डा. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय,
सागर (मध्य प्रदेश)

उत्तरांचल का विकास

डा. दलीप सिंह*

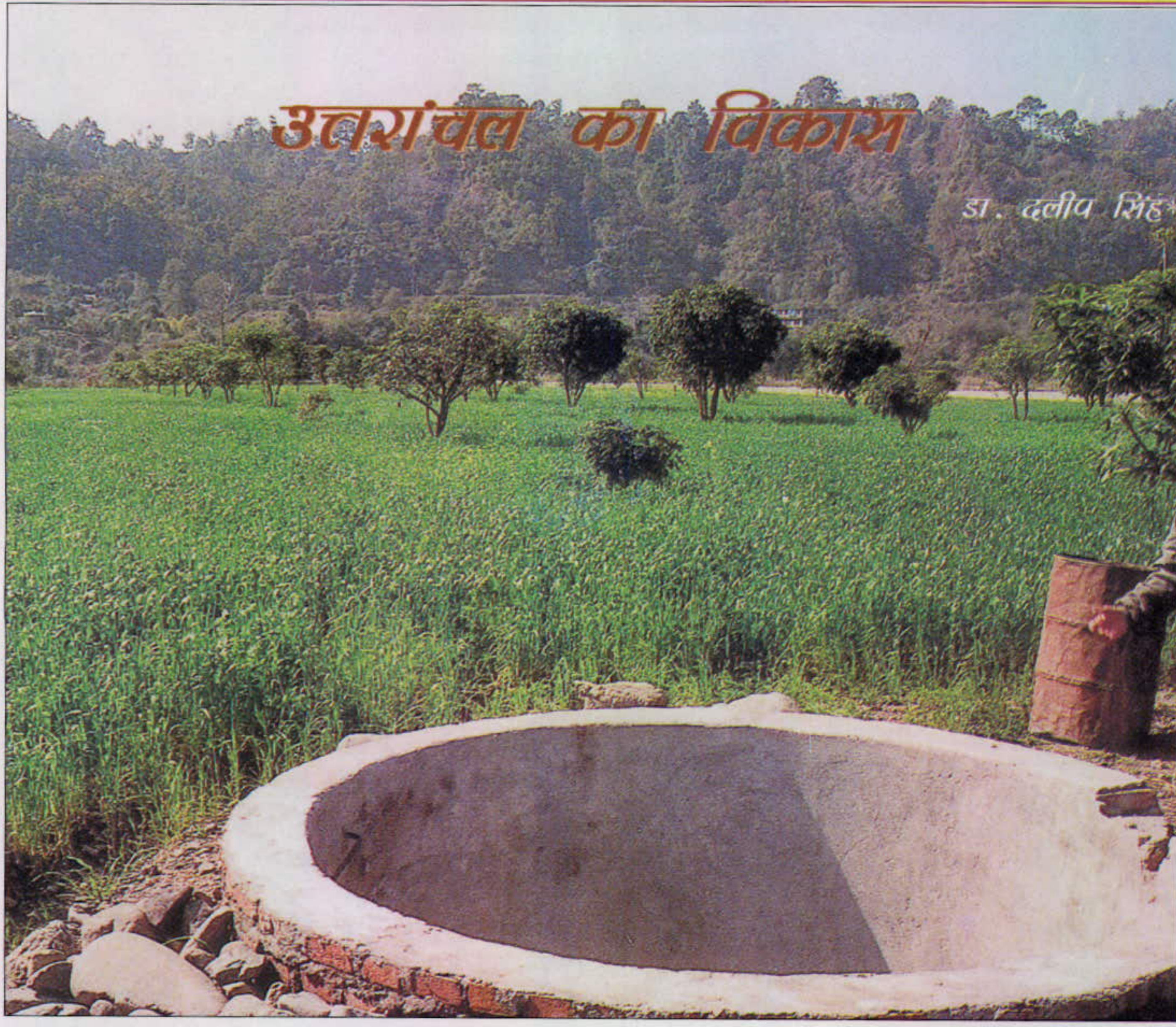

वर्तमान में उत्तरांचल के सामने सबसे बड़ी चुनौती विकास की है। भले ही हमारे जन–प्रतिनिधि यह कहते हुए नहीं थकते कि हमारे पास प्राकृतिक संसाधनों – जल, जंगल और जमीन – का अपार भंडार है और इन संसाधनों के बल पर अतिशीघ्र उत्तरांचल समृद्ध और विकसित राज्य बन जाएगा, परंतु अब तक इस बात का खुलासा नहीं किया गया है कि यह किस प्रकार और कैसे हो सकता है।

आर्थिक पिछड़ेपन और लोगों की वर्षों पुरानी मांग पूरी करते हुए 9 नवंबर, 2000 को जब 27वें राज्य के रूप में उत्तरांचल का निर्माण किया गया तो राज्य निर्माण के बाद जिस प्रकार का उत्साह और अपेक्षाएं यहां के जनमानस में देखने को मिल रही थीं ठीक उसी प्रकार की अपेक्षाएं, कभी पूर्वोत्तर सहित देश के अन्य राज्यों के निर्माण के बाद वहां के जनमानस में भी देखने को मिली थीं। लेकिन जिस विकास, पहचान, आत्मनिर्भरता को लेकर इन राज्यों के लोगों ने यह खुशी जाहिर की थी वह अधिक समय तक जीवित

*सचिव, जैव–विविधता संरक्षण एवं ग्राम्य विकास समिति,, बगड़वालधार, पो. त्यूणा (हिण्डोलाखाल), जनपद – टिहरी, गढ़वाल, उत्तरांचल

नहीं रह सकी और विकास, पहचान तथा आत्मनिर्भरता का प्रश्न केवल प्रश्न बनकर ही रह गया है। तब उत्तरांचल के विषय में हमारे प्रतिनिधियों द्वारा यह दावा करना कि नवगठित उत्तरांचल राज्य अतिशीघ्र विकास की दृष्टि से समृद्ध, आत्मनिर्भर, खुशहाल एवं देश का अग्रणी राज्य बन जाएगा और पर्यटन के क्षेत्र में तो यह राज्य स्वीट्जरलैंड से भी अधिक उन्नति कर लेगा – मुझमें संदेह भरता है। इसकी मूल वजह यह है कि समृद्धि की घोषणा करने वाले उसके तरीके उजागर नहीं होते।

यद्यपि नवंबर 2000 में उत्तरांचल के साथ ही छत्तीसगढ़ और झारखंड राज्य भी अस्तित्व में आए, किंतु इनमें से उत्तरांचल राज्य की स्थिति सामरिक दृष्टि से पूर्वोत्तर राज्यों के समान ही है। उत्तरांचल की सीमाएं तिब्बत और नेपाल से लगी होने के कारण यह क्षेत्र राष्ट्र की सुरक्षा व अखंडता की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस नवगठित राज्य की जनसंख्या का एक बड़ा भाग राष्ट्र की सुरक्षा हेतु सेना एवं अर्द्धसैनिक बलों में भर्ती है। यहां के निवासी अपने लिए एक पूर्ण राज्य की मांग लंबे समय से करते रहे। यह मांग लंबे संघर्ष के बाद पूरी हो सकी। अब उत्तरांचल सरकार का लक्ष्य यह होना चाहिए कि इस क्षेत्र की भौगोलिक परिस्थितियों, पर्यावरण विशेषताओं, निजी संसाधनों, सांस्कृतिक विरासत आदि के अनुरूप यहां का चहुंमुखी विकास सुनिश्चित करे। इसके लिए राज्य निर्माण के बाद एक ऐसे कार्यदल का गठन किया जाना चाहिए जिसमें स्थानीय बुद्धिजीवी, नियोजनकर्ता, पर्यावरणविद, समाजसेवी और महिलाएं शामिल हों। यह दल विभिन्न पहलुओं का गहन अध्ययन करके विकास का एक ऐसा मॉडल तैयार करे जिसके अनुरूप राज्य की विकास योजनाओं को क्रियान्वित किया जा सकता हो। लेकिन वर्तमान प्रवृत्तियां इस दिशा में आगे बढ़ती नहीं दिखाई देतीं।

वर्तमान में उत्तरांचल के सामने सबसे बड़ी चुनौती विकास की है। भले ही हमारे जन–प्रतिनिधि यह कहते हुए नहीं थकते कि हमारे पास प्राकृतिक संसाधनों – जल, जंगल और जमीन – का अपार भंडार है और इन संसाधनों के बल पर अतिशीघ्र उत्तरांचल समृद्ध तथा विकसित राज्य बन जाएगा, परंतु अब तक इस बात का खुलासा नहीं किया गया है कि यह किस प्रकार और कैसे हो सकता है। हालांकि सभी प्रमुख नदियां उत्तरांचल से ही निकलती हैं किंतु सुसंगठित एवं व्यवस्थित प्रबंधन की कमी के कारण ये नदियां स्थानीय लोगों के लिए अनुपयोगी ही बनी हुई हैं और सुदूरवर्ती गांवों में आज भी महिलाओं को 5–10 किमी. पैदल चलकर पानी की व्यवस्था करनी पड़ती है। इससे बड़ा दुर्भाग्य क्या हो सकता है कि छलछलाती नदियों के बाद भी यहां के लोग अपनी प्यास नहीं बुझा पाते हैं? अतः जब तक लोगों की समस्याओं का समाधान नहीं हो जाता तब तक उत्तरांचल के आत्मनिर्भर और समृद्ध होने के दावे मात्र कागजी घोड़े दौड़ाने के समान हैं। वर्तमान में जलविद्युत परियोजनाओं से लगभग 1030 मेगावाट विद्युत का उत्पादन हो रहा है जिसमें उत्तरांचल की कुल खपत 450 मेगावाट है। इस प्रकार 580 मेगावाट ऊर्जा की बचत है जिसे बेचकर राज्य अच्छी आय प्राप्त कर सकता है। लेकिन उत्तरांचल के जलविद्युत संसाधन पर अबतक उत्तर प्रदेश सरकार ने नियंत्रण रखा हुआ है। फलतः उत्तरांचल को समुचित बिजली और पानी नहीं मिल पा रहा। यह भी दुर्भाग्य है कि हमारी बिजली उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा हमें ही बाजार भाव पर बेची जा रही है। यही नहीं किसी ठोस नीति के अभाव में इसका विद्युत उत्पादन निरंतर घटता–बढ़ता रहता है। इसके अलावा उत्तरांचल के पास आय का कोई दूसरा प्रमुख साधन नहीं है। हां, इतना अवश्य है कि यदि जल के प्रबंधन की उचित योजनाएं बनाई जाती हैं और नदियों का जल छोटी–छोटी हाईड्रम परियोजनाओं के द्वारा पहाड़ों तक पहुंचाया जाता है जिससे इन नदियों के जल का उपयोग यहां के लोगों के लिए किया जा सके तो अवश्य ही उत्तरांचल की सदाबहार नदियां राज्य के विकास में अहम भूमिका निभा सकती हैं।

इसके बाद दूसरा संसाधन वन संपदा है जो कि सरकारी आंकड़ों के अनुसार कुल भौगोलिक क्षेत्रफल का लगभग 67 प्रतिशत है। लेकिन वास्तविकता यह है कि वन क्षेत्र इसके आधे से भी कम है। क्योंकि कुछ भूमि केवल वन क्षेत्र के अंतर्गत आती है लेकिन उसमें किसी भी प्रकार की वनस्पति नहीं होती है और न ही वन विभाग द्वारा वनीकरण का समुचित प्रयास किया जाता है (भले ही प्रतिवर्ष कागजों में हजारों हेक्टेयर भूमि में वनीकरण दिखा दिया जाए) कुछ भाग हिमालयी और चट्टानी हैं जिन पर वनस्पति उगती ही नहीं है। कुछ भाग को लैंटिना और काला बांसा जैसी खतरनाक झाड़ियों ने घेर रखा है जिसके साथ किसी भी प्रकार की घास और पेड़–पौधे नहीं पनप पाते हैं। ऐसे में वन उत्तरांचल राज्य को आर्थिक आधार दे पाएंगे यह तो हमारे प्रबंधन पर निर्भर करेगा किंतु यदि वनों के विनाश की यही गति रही तो वन आर्थिक आधार देने में अक्षम ही साबित होंगे। इसके अतिरिक्त एक बहुत बड़ा भू–भाग जो कि उत्तरांचल के कुल भौगोलिक क्षेत्र का 18.36 प्रतिशत के लगभग है, अभयारण्यों तथा राष्ट्रीय पार्कों के रूप में आरक्षित किया गया है। ऐसा करना वृहद राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय हित में, पर्यावरण संरक्षण तथा इस क्षेत्र की वनस्पति, वन और वन्य जीव संरक्षण के लिए अनिवार्य है, परंतु इस प्रक्रिया के द्वारा इस राज्य की काफी भूमि आर्थिक उपयोग के लिए उपयुक्त नहीं कही जा सकती है। इसके बदले भारत सरकार इस क्षेत्र को कोई अतिरिक्त केंद्रीय सहायता भी नहीं देती। चूंकि पर्यावरण तथा वन्य जीव संरक्षण का मुद्दा क्षेत्रीय ही नहीं, राष्ट्रीय विकास से भी जुड़ा हुआ है अतः केंद्र को इस क्षेत्र को सहायता देनी ही चाहिए। वन संरक्षण अधिनियम तथा वन्य जीव संरक्षण अधिनियम स्थानीय विकास के कार्यों में बाधक न बनें, इस दृष्टि से भी सरकार को इसमें आवश्यक संशोधन करने चाहिए।

उत्तरांचल में पर्यटन एक ऐसा क्षेत्र है जो राजस्व प्राप्ति का एक बड़ा स्रोत हो सकता है। लेकिन जब तक सड़कों (रज्जू मार्ग भी हो सकते हैं) में सुधार, रखरखाव और पर्यटकों को उचित सुविधाएं नहीं दी जाती हैं तब तक पर्यटक इस ओर आकर्षित नहीं हो सकते हैं। वर्तमान में उत्तरांचल में पर्यटक स्थलों का प्रबंधन अत्यंत खराब और निम्नस्तरीय है।

पर्यटकों के लिए सुविधाएं तो केवल नाममात्र की हैं। इसके अलावा संबंधित विभाग के कठोर रवैये से उत्तरांचल में पर्यटन आज तक राजस्व का प्रमुख स्रोत नहीं बन पाया है। यहां तक कि बद्रीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री, यमुनोत्री जैसे प्रमुख पवित्र स्थल, जहां प्रतिवर्ष लाखों तीर्थयात्री आते हैं, का प्रबंध तंत्र भी बहुत ही निराशाजनक है। यदि वैष्णो देवी में तीर्थ यात्रा के प्रबंधन और पर्यटकों को मिलने वाली सुविधाओं से उत्तरांचल के धार्मिक स्थलों की तुलना की जाए तो हमें शर्मिंदगी ही उठानी पड़ती है। अब समय आ गया है जब हमें अपने बड़े–बड़े दावों को छोड़ना चाहिए और इस सच्चाई को समझना चाहिए कि किसी वास्तविक सुविधा और रणनीति के बिना ऐसा कभी नहीं हो सकता है। राजनेता उत्तरांचल को विश्व के पर्यटन मानचित्र पर स्थापित करने की बात तो करते हैं लेकिन कभी भी अपनी योजनाओं का क्रियान्वयन नहीं करते हैं। ऊंची–ऊंची बातों की अपेक्षा हमें जमीनी सच्चाई को स्वीकार करके पर्यटकों को सभी प्रकार की उचित सुख–सुविधाएं प्रदान करनी होंगी तथा अपने पारंपरिक खाद्यान्नों, वेशभूषा को बढ़ावा देकर पर्यटकों को इनके प्रति आकर्षित करना होगा। इससे एक ओर राज्य को अधिक आय प्राप्त हो सकेगी, वहीं स्थानीय लोगों को भी रोजगार मिल सकेगा।

उत्तरांचल को अक्सर फल उत्पादक राज्य बनाने की बात भी की जाती है। लेकिन फलों को बाजार तक पहुंचाने वाली सड़कों का क्या होगा? पहले से उत्पादित फल क्यों बरबाद हो जाते हैं? ग्रामीण क्यों उन्हें औने–पौने दामों पर बेचने के लिए मजबूर होते हैं? फलों को सुरक्षित रखने के लिए शीत गृहों का क्या होगा? इनके बारे में कुछ नहीं कहा जाता है। उत्तरांचल में सड़कों का अत्यधिक महत्व है जिनके माध्यम से फलों या सब्जियों को बाजार में पहुंचाया जा सकता है। यद्यपि यहां कुछ स्थानों तक पहुंचने के लिए सड़कें हैं। किंतु वे बड़ी जीर्ण–शीर्ण अवस्था में हैं। दूरदराज के गांवों को जब तक सड़कों या रज्जू मार्गों से नहीं जोड़ा जाता है तब तक विकास की बात करना बेमानी ही लगती है। यद्यपि प्राकृतिक आपदाओं के कारण भी उत्तरांचल में आर्थिक विषमता है किंतु इससे बढ़कर भी कई ऐसी समस्याएं हैं जो मानव द्वारा उत्पन्न की गई हैं और जिनकी वास्तविक वजह कार्य, सभ्यता, ईमानदारी, कर्तव्य और समर्पण की कमी है। इसे इस बात से भी महसूस किया जा सकता है कि जब कोई राजनेता या मंत्री उत्तरांचल के दौरे पर आता है तो टूटी–फूटी सड़कों की मरम्मत तथा सभी प्रकार के गड्ढों और कूड़े–कचरे को साफ कर लिया जाता है। प्रश्न उठता है कि यह कार्य पहले और नियमित रूप से क्यों नहीं किया जाता है? इसका उत्तर मिलना

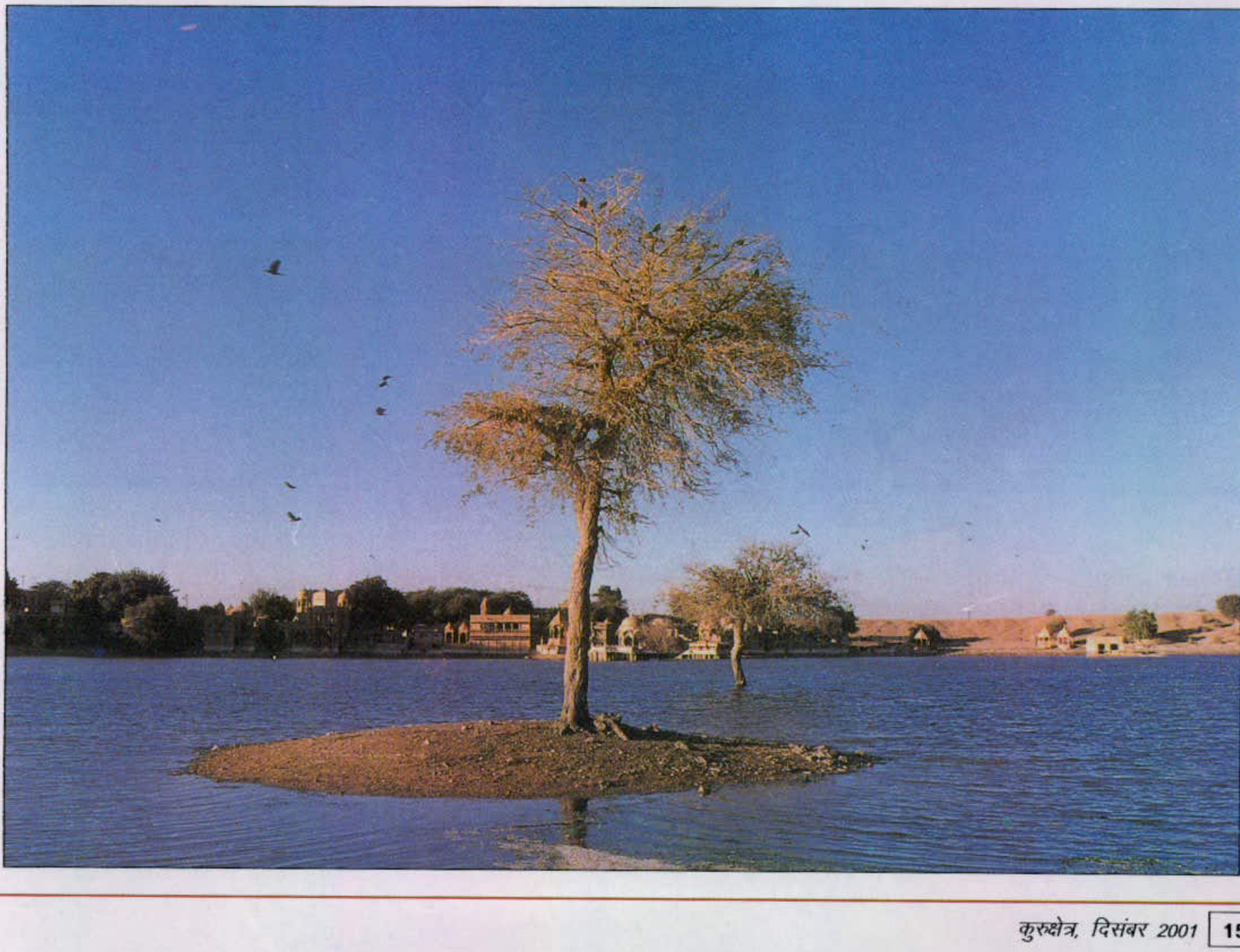

कठिन है। यदि राजनेता औद्योगिक इकाइयों को उत्तरांचल में पैसा लगाने के लिए प्रेरित कर सकते हैं तो उन्हें वास्तविक रूपरेखा तैयार करके इस क्षेत्र में सुधार भी करना चाहिए। यह विकास और रोजगार की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से उत्तरांचल के लोगों को यह नहीं भूलना चाहिए कि उनका संघर्ष अभी समाप्त नहीं हुआ है, उन्हें निरंतर तैयार रहना होगा और विभिन्न क्षेत्रों में हो रहे भ्रष्टाचार और गैर–जिम्मेदारी के खिलाफ सक्रिय होना होगा।

यदि हम स्थिति का अवलोकन करें तो पाते हैं कि स्वतंत्रता प्राप्ति से लेकर आज तक उत्तरांचल के सुदूरवर्ती गांव शासक–प्रशासकों की उपेक्षा और अदूरदर्शिता के शिकार बने रहे हैं। स्थानीय विकास हेतु सार्थक एवं सकारात्मक नीतियां न तो पहले अपनाई गईं और न ही उन पर अब ध्यान दिया जा रहा है। 1962 के बाद विकास के नाम पर मात्र अधकचरी सड़कों, ऊर्जा के अभाव में विद्युतीकरण, पानी के बिना शो पीस के रूप में खड़ी पानी की टंकियां, भवनों और शिक्षकों के अभाव में पेड़ों के नीचे बैठे छात्र, औषधि उपकरणों तथा चिकित्सकों के अभाव में चल रहे चिकित्सालय, अनुत्पादक और अलाभकारी सरकारी कार्यालय, बेरोजगारों की फौज को बेतहाशा बढ़ाते हुए महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय ही इस क्षेत्र की सच्चाई हैं। राज्य बनने के बाद अब विकास के नाम पर उत्तरांचल के गांवों को इंटरनेट से जोड़ने की बात की जाती है, लेकिन दूरदराज के गांवों में चलने लायक सड़कें, पर्यावरण की दृष्टि से रज्जू मार्ग, संचार की अच्छी सुविधाएं, गांवों में युवाओं के लिए रोजगार, पलायन पर रोक, आवश्यकताओं को पूरा करने वाले बाजार, बिना बाधा के पानी और बिजली, प्रभावकारी स्वास्थ्य तंत्र, बच्चों के लिए अच्छी शैक्षणिक सुविधाओं को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। अतः उत्तरांचल में विकास की रूपरेखा गांवों को केंद्र में रखकर तैयार की जानी चाहिए। क्योंकि यहां की अधिकांश जनसंख्या गांवों में निवास करती है और उनका मुख्य व्यवसाय कृषि है। जबकि यहां कृषि भूमि मात्र 12.5 प्रतिशत है उसमें भी अधिकांश भूमि असिंचित एवं ऊसर है। इसलिए उत्तरांचल में विकास का मानक गांवों का विकास होना चाहिए। नए राज्य में विकास की किरण राज्य के सुदूरवर्ती क्षेत्र के अंतिम व्यक्ति तक पहुंचे, इसके लिए विशेष प्रयास किए जाने चाहिए। इनकी आशा का केंद्रीय स्रोत राज्य ही है। अतः राजनीतिज्ञों को भी हवाई घोषणाएं करने के बजाय जमीनी सच्चाई को स्वीकार करते हुए राज्य के विकास में ईमानदारी से अपनी भूमिका निभानी चाहिए और जनता को भी अत्यधिक महत्वाकांक्षी होने से बचना चाहिए।

राज्य बनने के बाद भी इस क्षेत्र के विकास से जुड़े मूलभूत प्रश्नों पर अभी तक कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो पाई है। बेरोजगारी, पलायन, पर्यावरण जैसे प्रश्नों की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया जा रहा है। बेरोजगारों में अपने भविष्य को लेकर जिस प्रकार की सुगबुगाहट शुरू हो गई है, वह राज्य एवं राष्ट्रहित के लिए शुभ संकेत नहीं है। एक ओर बार–बार शिक्षा के स्तर को सुधारने की बात की जाती है, वहीं दूसरी ओर रोजगार के नाम पर शिक्षा आचार्य, शिक्षा बंधु एवं शिक्षा मित्र के नाम पर शिक्षित युवाओं के साथ जो मजाक किया जा रहा है उससे बेरोजगारी तो दूरी नहीं होगी, अपितु ऐसे कदम राज्य में अराजकता को जरूर जन्म देंगे। इससे पहले कि युवाओं का आक्रोश एक जनांदोलन के रूप फूटे, राज्य के विकास की ओर समुचित ध्यान दिया जाना चाहिए और इसके लिए जनसमुदाय को विश्वास में लेकर कार्य किया जाना नितांत आवश्यक है। तभी उत्तरांचल विकास की मुख्यधारा से जुड़ पाएगा।

अतः नवगठित उत्तरांचल को कुशल प्रशासक और अनुभवी एवं ईमानदार नेतृत्व की आवश्यकता है। ऐसा नेतृत्व जो उत्तरांचल के सामाजिक–सांस्कृतिक संसाधनों के समुचित उपयोग, सांस्कृतिक नीति, शिक्षा, बेरोजगारी की समाप्ति, पलायन पर रोक, सामुदायिकता की भावना को मजबूत करने, राज्य सरकार की कुशलता बढ़ाने, नौकरशाही को संवेदनशील बनाने और सार्वजनिक धन के सही उपयोग, समयबद्ध, सक्षम और कार्यक्रमों को कड़ाई से लागू करने की रणनीति तथा भ्रष्टाचार पर रोक लगाते हुए जन–प्रतिनिधियों की परिसंपत्ति का ब्यौरा स्पष्ट करवाए। इसके साथ ही, ऐसी योजनाओं का निर्माण किया जाए कि पर्यावरण और विकास समान रूप से चलते रहें और पर्यावरण संरक्षण के लिए जनजागृति लाई जा सके। परंपरागत कृषि व्यवस्था को नई तकनीकी से जोड़ा जाए। नकदी फसलों को प्रोत्साहित किया जाए। जनसंख्या की वृद्धि पर नियंत्रण लगाया जाए। इसके लिए सबसे पहले चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवारों के लिए दो से अधिक संतान होने पर प्रतिबंध लगाया जाए। पलायन की समस्या को रोकने के लिए रोजगार के साधन इन्हीं क्षेत्रों में उपलब्ध करवाए जाएं। बाहरी लोगों के द्वारा भूमि खरीद–फरोख्त पर प्रतिबंध लगाया जाए। वस्तुतः आम आदमी तक विकास की किरण पहुंच सके इसकी समुचित व्यवस्था की जानी चाहिए, तभी सामरिक और सीमांत राज्य उत्तरांचल विकास की मुख्यधारा से जुड़कर राष्ट्र की दृष्टि से हितकर होगा और जनता के सपनों का राज्य बन पाएगा। हमारे नीति–निर्माताओं व प्रशासकों को यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि इस क्षेत्र के पिछड़ेपन, अल्पविकास व सुविधाओं की कमी का परिणाम 1992 के भारत–चीन युद्ध में राष्ट्र सैनिक पराजय के रूप में भुगत चुका है लेकिन यदि जनता की आशाओं के अनुरूप राज्य निर्माण के बाद भी बेरोजगारी, पलायन आदि समस्याओं की ओर ध्यान नहीं दिया गया और क्षेत्र में अशांति रहती है तो यह राष्ट्र और राज्य दोनों के लिए हितकर नहीं होगा। ❑

कुरुक्षेत्र मंगाने का पता

विज्ञापन और प्रसार व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग
पूर्वी खंड–4, लेवल–7
रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली–110066

मूल्य एक प्रति	:	सात रुपये
वार्षिक शुल्क	:	70 रुपये
द्विवार्षिक	:	135 रुपये
त्रिवार्षिक	:	190 रुपये
विदेशों में (हवाई डाक द्वारा)		
पड़ोसी देशों में	:	500 रुपये (वार्षिक)
अन्य देशों में	:	700 रुपये (वार्षिक)

पर्वतीय क्षेत्रों में पारंपरिक प्रबंधन व्यवस्था जलागम का मूल आधार

जयप्रकाश पंवार

पिछले दो दशक से 'जलागम परिकल्पना' विकासवादियों के बीच बहस का मुद्दा बनी हुई है। इन दो दशकों में जलागम की परिकल्पना के आधार पर कई छोटी–बड़ी परियोजनाओं का सरकारी–गैर सरकारी स्तर पर क्रियान्वयन हुआ है। जिसके परिणाम अपेक्षाकृत सुखद आए हैं। इन अनुभवों से एक बात स्पष्ट हुई है कि यदि जलागम की मूल परिकल्पना के आधार पर ही क्रियान्वयन किया जाय तो विकास की तस्वीर बदल सकती है। जलागम परियोजनाओं के अब तक के कृषि, वानिकी, पशुपालन, उद्यानिकी, भूमि संरक्षण, ऊर्जा संरक्षण आदि के अनुभव इस बात की ओर इशारा करते हैं कि जलागम परिकल्पना–आधारित विकास प्रक्रिया पर्वतीय क्षेत्रों हेतु ज्यादा कारगर और समन्वित विकास की कल्पना को साकार करने में काफी सक्षम है। अभी तक पर्वतीय क्षेत्रों में जलागम को एक वैज्ञानिक अवधारणा के रूप से ही ज्यादा जाना गया है। आम ग्रामीण इसे विकास की वैज्ञानिक तथा नई तकनीकीयुक्त एक प्रणाली मानते हैं जिससे कृषि, पशुपालन, वानिकी उद्यानिकी आदि के क्षेत्रों में विकास की गति बढ़ाई जा सकती है जबकि इसका दूसरा पक्ष यह है कि पर्वतीय क्षेत्रों के लोग पहले से ही जलागम परिकल्पना के आधार पर अपने जीवनोपयोगी कार्यों को करते रहे हैं। भले ही वे जलागम शब्द का मतलब न जानते हों लेकिन धार, खाल, गाड़–गधेरे, सिंचित, असिंचित, जंगल, खेत आदि की उनकी सदियों पुरानी पारंपरिक व्यवस्थाएं हैं जो आज भी जिंदा हैं।

यदि हम पर्वतीय भौगोलिक स्थिति का

अध्ययन करें, तो पाएंगे कि प्रत्येक 10–12 गांवों का क्षेत्र एक सूक्ष्म जलागम क्षेत्र की सीमा को तय करता है। उनमें से कुछ गांव ऊंचाई पर होंगे तो कुछ मध्य और नीची घाटियों में स्थित होंगे। इसी प्रकार किसी गाड़–गधेरे (छोटी नदी) के दोनों ओर भी गांव, खेत, जंगल, बाग–बगीचे होंगे। इस प्रकार एक सूक्ष्म जलागम क्षेत्र के मुख्य हिस्सों का विश्लेषण करें, तो हमें ज्ञात होता है कि गांव की जंगल संबंधी अपनी पारंपरिक प्रबंधन व्यवस्था है। कब कृषि उपकरणों, घास–चारे, जलाऊ लकड़ी आदि के लिए जंगल खुलेगा, यह ग्रामीण स्वयं तय करते हैं। जंगलों को ज्यादा नुकसान न हो और वे पुनः विकसित हो सकें इसके लिए जंगल के अलग–अलग हिस्सों को क्रमवार बंद कर दिया जाता है। जंगल की चौकीदारी की व्यवस्था, पशुओं को चराने की प्रति परिवार प्रतिदिन या प्रतिमाह के हिसाब से जिम्मेदारी तय की जाती है। साथ ही जंगल को नुकसान पहुंचाने पर दंड का भी प्रावधान होता है।

इसी तरह कृषि व्यवस्था के अंतर्गत गांवों में सामूहिक रूप से कृषि कार्य किए जाते हैं। इसे 'पड्याल' कहा जाता है जिसमें प्रत्येक परिवार का एक सदस्य अपना श्रमदान किसी दूसरे परिवार के कृषि कार्यों हेतु करता है। यह प्रणाली हर परिवार को मदद करती है। इसी प्रकार बीजों का वितरण भी एक से दूसरे परिवार को होता है। खेत में गोबर पहुंचाने के लिए भी 'खर्क' व्यवस्था तय है जिसमें अलग–अलग खेतों में पशुओं को चराया जाता है और कुछ समय तक पशु वहीं डेरा डाले रहते हैं जिससे खेतों तक गोबर पहुंचाने में श्रम शक्ति कम लगे।

खेती भी दो प्रकार की है – सिंचित खेती और असिंचित खेती। सिंचित खेती निचली घाटियों में तथा शुष्क खेती अमूमन, मध्यवर्ती या ऊंचे स्थानों में होती है। दोनों प्रकार की खेती की व्यवस्थाएं तथा खेती के तरीके भी भिन्न–भिन्न प्रकार के हैं। सिंचित खेतों में आम तौर पर दो फसलें होती हैं जिसमें धान और गेहूं प्रमुख हैं। खेत की मेड़ों पर दाल की फसलें अतिरिक्त उत्पादन देती हैं। इसी तरह शुष्क खेती में कोदो, मंडुवा, झंगोरा, दालें, आलू और अन्य फसलें होती हैं जो वर्षा पर निर्भर होती हैं। बीच–बीच में खेतों की उर्वरा शक्ति को बनाए रखने के लिए छह महीने से एक साल तक बिना जोते भी छोड़ा जाता है। खेतों के ऊपर–नीचे चारा प्रजाति के पेड़ जैसे भीमल, खड़ीक, असीन, सांदण आदि से बेमौसम (चारे की कमी वाला मौसम) में पशुओं को हरा चारा मिल जाता है। इसी प्रकार लोग शुष्क घास जंगल से एकत्र कर पेड़ों पर लटका देते हैं। फसलों का चारा भी घर के आसपास जमा रहता है। जिसे बीच–बीच में पशुओं को दिया जाता है। इससे चारे की निरंतरता बनी रहती है।

इसी प्रकार पशुपालन की पारंपरिक व्यवस्था है। बड़े पशु अमूमन गौशालाओं में रहते हैं। उनके चारे की व्यवस्था गौशाला में ही करनी पड़ती है। जहां जंगल पर्याप्त है वहां बड़े पशु भी जंगल में जाते हैं। गाय, भेड़–बकरियों को अमूमन जंगलों के चरागाहों में चराने की व्यवस्था है। इसमें भी किसी खास जंगल को चुना जाता है। फिर उसे बंद कर अगले वर्ष दूसरे जंगल में पशुओं को चराने की व्यवस्था की जाती है। पशु चराने के लिए भी गांव में प्रत्येक परिवार की अलग–अलग दिन जिम्मेदारी तय होती है। तय व्यक्ति सारे गांव के पशुओं को दिनभर चराकर सांय को वापस घर तक पहुंचाता है। इस व्यवस्था से पशुओं में प्राकृतिक गर्भाधान भी होता रहता है तथा इनके लिए गर्भाधान की समस्या नहीं पैदा होती। गांवों में प्रत्येक परिवार के घरों के आगे छोटे–छोटे सब्जी के खेत होते हैं जिसे सग्वाड़ा कहा जाता है इनकी सिंचाई घर के उपयोग

उत्तरांचल की जलाग

उत्तरांचल राज्य में जलागम परियोजना का उद्‌भव 1983 में हुआ था। तब से लेकर आज तक जलागम प्रबंध निदेशालय छह जलागम प्रबंध परियोजनाओं का क्रियान्वयन कर चुका है जिनमें से चार परियोजनाएं पूर्ण हो चुकी हैं और दो परियोजनाएं पूर्ण होने की स्थिति में हैं। इसी प्रकार दून वैली समन्वित जलागम प्रबंध परियोजनाएं जो 1993–94 में प्रारंभ हुई थीं वे भी दिसंबर 2001 तक पूर्ण हो जाएंगी। समन्वित जलागम परियोजना (पर्वतीय–2) अभी चल रही है। जिसका कार्यकाल 2003 तथा 2004 तक चलेगा।

उत्तरांचल में जलागम विकास पर यदि दृष्टि डालें तो पूरे राज्य के 11 जनपदों में 1,103 सूक्ष्म जलागम क्षेत्रों की पहचान की गई है जिनमें से सबसे ज्यादा सूक्ष्म जलागम क्षेत्र चमोली जनपद (150 सूक्ष्म जलागम क्षेत्र) में और सबसे कम चंपावत जनपद (27 सूक्ष्म जलागम क्षेत्र) में चिन्हित किए गए हैं। उपर्युक्त सूक्ष्म जलागम क्षेत्रों में से 153 सूक्ष्म जलागम क्षेत्रों का जलागम परिकल्पना के आधार पर उपचार संपन्न हो चुका है। इनमें सबसे ज्यादा 40 सूक्ष्म जलागम क्षेत्र पौड़ी जनपद में और सबसे कम पिथौरागढ़ तथा चंपावत के तीन–तीन सूक्ष्म जलागम क्षेत्रों का उपचार किया जा चुका है। जलागम निदेशालय की रिपोर्ट के अनुसार वर्तमान में परियोजनांतर्गत 349 सूक्ष्म जलागम क्षेत्र उपचारित हो रहे हैं। इनमें से सबसे अधिक 53 सूक्ष्म जलागम क्षेत्र पौड़ी जनपद में और सबसे कम चंपावत जनपद में 10 सूक्ष्म जलागम क्षेत्रों में उपचार कार्य हो रहा है।

उत्तरांचल के 1,103 सूक्ष्म जलागम क्षेत्रों में से अभी भी 601 सूक्ष्म जलागम क्षेत्रों में परियोजनांतर्गत कोई भी क्रियान्वयन

से निकलने वाले पानी, घर की नाली आदि से हो जाती है। इसके लिए अतिरिक्त पानी की जरूरत नहीं होती और सालभर सब्जी उपलब्ध होती रहती है। इन्हीं सग्वाड़ों में नारंगी, माल्टा, सेब, अखरोट, पपीता, अमरूद, नींबू आदि प्रजातियों के फल के पेड़ होते हैं। इससे परिवार में फलों की आपूर्ति हो जाती है।

पेयजल हेतु पारंपरिक धारे–पंदेरे और नौले के उपयोग का प्रचलन सदियों से रहा है। इसके मूल स्रोत की सुरक्षा सामूहिक रूप से होती है। खेतों में सिंचाई कच्ची नाली के द्वारा होती है जिसे 'कूल' कहा जाता है।

उपर्युक्त अनेकानेक तथ्यों के आधार पर यदि जलागम परिकल्पना का विश्लेषण करें, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि पर्वतीय क्षेत्रों में जब तक पारंपरिक प्रबंधन प्रणाली का अध्ययन नहीं किया जाता, तब तक जलागम परियोजनाओं से आम ग्रामीणों को फायदा नहीं पहुंच सकता है। परंपराओं को सिर्फ रूढ़िवादिता कह देना जलागम की मूल कल्पना से पीछे हटने की बात है। लेकिन इधर पिछले दो दशकों से उत्तरांचल में जलागम की मूल अवधारणा को समझने की कोशिश ही नहीं की गई है। जलागम के तहत खेतों में नए संकर बीजों से जहां पुराने बीजों का लोप हो गया है वहीं लोगों की पारंपरिक फसलें समाप्त होने के कगार पर हैं। इसी प्रकार जैविक खेती को प्रोत्साहन के बजाय रासायनिक खादों को प्रोत्साहन दिया गया। पारंपरिक कृषि उपकरणों के बजाय लोहे के ऐसे उपकरण बांटे गए जो एक बार प्रयोग होने पर दुबारा ढूंढकर भी नहीं मिल पा रहे हैं। इसी तरह जंगलों में पारंपरिक प्रबंधन प्रणाली को मजबूत करने की बजाय, नए संगठनों के निर्माण से गांवों में लड़ाई–झगड़े ही बढ़े हैं जबकि सामुदायिक पंचायती वन प्रबंधन व्यवस्था को मजबूत करने की ज्यादा जरूरत है। इस प्रणाली से लोग बखूबी परिचित भी हैं। इसी तरह पशुपालन के क्षेत्र में जर्सी–जैसी प्रजाति का परिचय कराना कुछ हद तक ठीक है, लेकिन पहाड़ों की गौशालाओं के छोटे दरवाजे के कारण जर्सी जैसे भारी–भरकम पशु को गौशाला के अंदर जाने में भारी दिक्कत होती है। पर्वतीय क्षेत्रों में नई गौशालाओं के निर्माण पर ध्यान नहीं दिया गया। प्राकृतिक गर्भाधान की बजाय अप्राकृतिक गर्भाधान व्यवस्था के हालात यह हैं कि पशु केंद्रों पर वीर्य उपलब्ध ही नहीं है। है भी तो वह नाइट्रोजन की कमी से मर चुका है। वानिकी के तहत स्थानीय प्रजातियों की उपेक्षा से दिन–प्रतिदिन चारे की कमी होती जा रही है। चीड़, यूकेलिप्टस, शू–बबूल व डोडोनिया से जंगल भले ही हरे–भरे दिख जाएं लेकिन इन वृक्षों से न तो जलाऊ लकड़ी, न घास–चारा और न औषधि ही मिल सकती है। साथ ही ये वृक्ष भूमि की उर्वरा शक्ति को क्षारीय बनाते हैं और भूमिजल का स्तर नीचा करते हैं। इसी प्रकार जल प्रबंधन के क्षेत्र में पुरानी कूलों (कच्ची नहरों) के स्थान पर सीमेंट की नहरें तो बन गईं, लेकिन टूटने पर उनकी मरम्मत का बड़ा आर्थिक विकल्प गांव में मौजूद नहीं है। पारंपरिक खालों–नालों के पुनर्निर्माण के बजाय, भारी–भरकम सीमेंट के टैंकों का विकल्प क्षणिक ही नजर आता है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि यदि जलागम परियोजना के तहत ऐसे ही कार्य होते रहे तो यह परियोजना पर्वतीय क्षेत्रों में वरदान के बजाय अभिशाप ही साबित होगी। अतः पारंपरिक प्रबंधन व्यवस्था को जलागम का मूल आधार माना जाना चाहिए, तभी जलागम परिकल्पना पर्वतीय क्षेत्रों में आर्थिक स्वावलंबन और सतत विकास का आधार बन सकती है। ❑

रचना
12/26, आशीर्वाद एन्कलेव, देहरादून
उत्तरांचल

रियोजनाओं पर एक नजर

गतिविधि शुरू नहीं की गई है। 204 सूक्ष्म जलागम क्षेत्र बर्फीले क्षेत्र होने के कारण जलागम गतिविधि के योग्य नहीं पाए गए हैं। जबकि 397 सूक्ष्म जलागम क्षेत्र उपचार हेतु उपलब्ध हैं

और 105 सूक्ष्म जलागम क्षेत्र उपचार हेतु प्रस्तावित हैं। उत्तरांचल में कई वृहद जलागम परियोजनाएं क्रियान्वित की गई हैं। इनमें दून वैली जलागम परियोजना प्रमुख है जिसके अंतर्गत हिमालय समन्वित जलागम प्रबंधन परियोजना, 1983–84 से पौड़ी तथा चमोली जिले के 2,867 वर्ग किमी. के नयार जलागम क्षेत्र में कार्य कर सितंबर 1992 में समाप्त हो चुकी है। इसके अंतर्गत 9 वर्षों में 75 सूक्ष्म जलागम क्षेत्रों में यह परियोजना क्रियान्वित की गई थी। इस पर 80.49 करोड़ रुपये खर्च किया गया था। 1982–83 में दक्षिणी भगीरथी समन्वित जलागम परियोजना टिहरी जिले के 192 वर्ग किमी. क्षेत्रफल में क्रियान्वित की गई जिसके अंतर्गत छह सूक्ष्म जलागम क्षेत्रों में यह परियोजना क्रियान्वित की गई। सात वर्षों के कार्यकाल में इस परियोजना में 6.46 करोड़ रुपये खर्च किए गए तथा यह परियोजना 1989 में समाप्त हो गई। इसी परियोजना का दूसरा चरण पुनः 1989–90 में शुरू किया गया जिसके अंतर्गत 18 सूक्ष्म जलागमों के 542 वर्ग किमी. क्षेत्र को आच्छादित किया गया। सात वर्षों के कार्यकाल वाली यह परियोजना मार्च 1996 में समाप्त हुई, जिस पर 19.56 करोड़ रुपये खर्च किए गए। यह परियोजना भी टिहरी जिले में क्रियान्वित की गई थी। इसी कड़ी में भीमताल समन्वित जलागम प्रबंध परियोजना नैनीताल जिले के, 215 वर्ग किमी. क्षेत्र में क्रियान्वित की गई थी। 1991–92 में शुरू हुई यह परियोजना भी सात वर्षों के कार्यकाल के पश्चात 1998 में समाप्त हो गई। इस पर 11.50 करोड़ रुपये खर्च हुए। ❑

ग्रामीण सड़क व्यवस्था

डा. संदीप कुमार

सड़कें किसी देश के आर्थिक विकास की आधारशिला समझी जाती हैं। यह कथन भी सर्वथा उचित और युक्तिपरक है कि सड़कें किसी राष्ट्र की रक्तवाहिनी धमनियां तथा शिराएं होती हैं जिनसे होकर समस्त सुधार प्रवाहित होता है। जिस तरह धमनियां तथा शिराएं स्वच्छ रक्त को शरीर के प्रत्येक भाग में पहुंचाती हैं उसी तरह सड़कें भी जीवन के लिए आवश्यक उपकरण, वस्तुएं और विचार एक छोर से दूसरे छोर तक पहुंचाती हैं। वस्तुओं का उत्पादन, विनिमय, वितरण, वाणिज्य और प्रशासन सभी को सड़क मार्ग का साधन सुगम एवं सुलभ बनाता है। ऐसे में प्रधानतः ग्रामीण भारतीय अर्थव्यवस्था है, इसका महत्व अत्यधिक बढ़ जाता है।

भारत में सड़क व्यवस्था चार स्तरों पर की जाती है – (1) राष्ट्रीय राज मार्ग, (2) राज्य राज मार्ग, (3) जिला मार्ग तथा (4) ग्रामीण सड़कें। ग्रामीण सड़कें गांवों को जिले की सड़कों के साथ ही एक गांव को दूसरे गांव से जोड़ती हैं। इन सड़कों के निर्माण तथा रखरखाव की जिम्मेदारी ग्रामसभा तथा जिला परिषदों की है। यह सड़कें समाज कल्याण कार्यक्रमों को लागू करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। ये ग्रामीण क्षेत्रों में स्वास्थ्य सेवाएं पहुंचाने, प्राकृतिक आपदा तथा विपत्ति के समय राहत सेवा उपलब्ध कराने, बच्चों को स्कूल पहुंचाने तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास में उपयोगी हैं। कृषकों के लिए यह सड़कें विशेष सहायक और लाभदायक हैं। सड़क परिवहन के माध्यम से कृषक अपना उत्पाद, विशेषकर नाशवान वस्तुओं एवं सब्जियों आदि को सहजता से मंडियों तथा शहरों तक ले जा सकते हैं। कृषि आगतों–उपकरणों, उर्वरकों, बीजों, कीटनाशकों आदि को सड़कों के माध्यम से गांवों तक पहुंचाया जा सकता

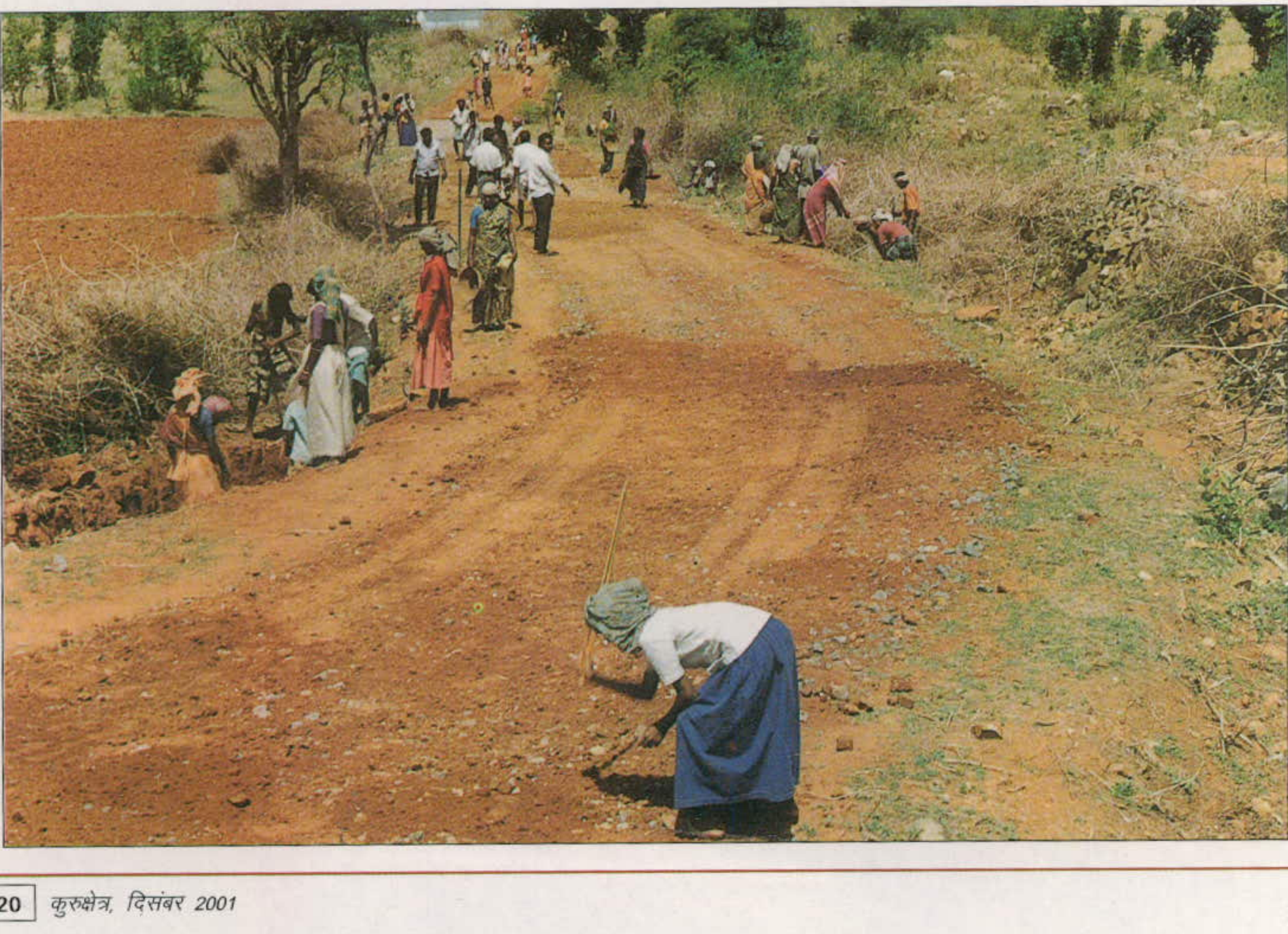

है। वर्षा के मौसम में बिना अच्छी सड़क के किसानों को अपने गांवों से निकलना मुश्किल होता है।

योजनाकाल में विकास

स्वतंत्रता के पश्चात केंद्र तथा राज्य स्तर पर ग्रामीण क्षेत्रों को शहर से जोड़ने के कार्य को प्राथमिकता दी गई लेकिन विकास संतोषजनक नहीं रहा। गांवों का एक बड़ा हिस्सा अभी भी पूरे वर्ष चलने वाली सड़कों से जुड़ा नहीं है। तीसरी योजना में भारत की

ग्रामीण क्षेत्रों में सड़कों का अभी भी समुचित विकास नहीं हो पाया है। अधिकतर सड़कें कच्ची हैं। ऐसी स्थिति में वहां पशु तथा बैलगाड़ी परिवहन साधनों के रूप में प्रयोग किए जाते हैं। पक्की सड़कें भी विभिन्न राज्यों में कम आबादी वाले गांवों में कम उपलब्ध रही हैं।

भावी प्रगति और आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए सरकार ने 1959 में बनाई गई हैदराबाद योजना को आधार बनाकर एक बीस वर्षीय सड़क विकास योजना (1961–1981) को स्वीकृति प्रदान की। इस योजना के अनुसार किसी भी विकसित कृषि क्षेत्र के अंतर्गत कोई गांव पक्की सड़क से 6 किमी. तथा कच्ची सड़क से 2.5 किमी. से अधिक दूरी पर नहीं होगा। इस योजना पर 5,200 करोड़ रुपये व्यय किए गए तथा पिछड़े क्षेत्रों और सीमावर्ती क्षेत्रों में सड़क विकास पर विशेष ध्यान दिया गया है। इस तरह तृतीय योजना काल में 7,600 किमी. पक्की सड़कों तथा 7,800 किमी. कच्ची सड़कों का निर्माण किया गया।

पांचवीं योजना में सड़क विकास संबंधी उन कार्यों को प्राथमिकता दी गई जो चौथी योजना से चले आ रहे थे। छठी योजना में राज्य स्तर की सड़कों के विकास की जिम्मेदारी राज्य सरकारों को सौंपी गई। राज्य क्षेत्र में ग्रामीण सड़कें न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रमों के अंतर्गत बनाई गईं। छठी योजना में 1,800 गांवों में सभी मौसम वाली संपर्क सड़कें बनाई गईं। सातवीं योजना में सड़कों के विकास, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों की सड़कों के विकास पर विशेष ध्यान दिया गया। इस योजना पर सड़क विकास पर वास्तविक व्यय 6,300 करोड़ रुपये था। आठवीं योजना में सड़क नेटवर्क के विस्तार का प्रयास किया गया। इसके अतिरिक्त सड़कों के अनुरक्षण पर विशेष बल दिया गया। राज्य क्षेत्रों में आने वाली सड़कों तथा न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रमों के अंतर्गत आने वाली सड़कों और पुलों के निर्माण के लिए 10,610 करोड़ रुपयों का प्रावधान था।

परिदृश्य

ग्रामीण क्षेत्रों में सड़कों का अभी भी समुचित विकास नहीं हो पाया है। अधिकतर सड़कें कच्ची हैं। ऐसी स्थिति में वहां पशु तथा बैलगाड़ी परिवहन साधन के रूप में प्रयोग किए जाते हैं। पक्की सड़कें भी विभिन्न राज्यों में कम आबादी वाले गांवों में कम ही उपलब्ध हैं। सेंटर फार मानीटरिंग इंडियन इकोनामी (सीएमआईई) से प्राप्त आंकड़ों के अनुसार ग्रामीण सड़कों के क्षेत्र में धीमी प्रगति प्रदर्शित होती है। पंचायती राज सड़कें जो 1970–71 में 3.57 लाख किलोमीटर थी 1990–91 में बढ़कर 9.35 लाख किलोमीटर तथा 1996–97 में पुनः बढ़ कर 10.53 लाख किलोमीटर हो गईं। इनके अंतर्गत जिला परिषद सड़कें, ग्राम पंचायत सड़कें तथा सामुदायिक विकास मार्ग सम्मिलित हैं। निराशाजनक पक्ष यह है कि इनमें से पक्की सड़कों का प्रतिशत बहुत कम है। 1970–71 में पक्की सड़कें कुल पंचायती राज सड़कों का 18 प्रतिशत थीं। यह प्रतिशत 1990–91 में बढ़कर 33 प्रतिशत तथा 1996–97 में पुनः बढ़कर 37 प्रतिशत हो गया। सड़कों से जुड़े हुए गांवों को देखने से ज्ञात होता है कि वित्तीय वर्ष 1994–95 के अंत तक अधिकतर राज्यों में 1,500 से अधिक आबादी वाले लगभग 95 प्रतिशत से अधिक गांवों को जोड़ा गया। केवल कुछ ही राज्यों में यह प्रतिशत कम है जैसे बिहार, जहां केवल 70 प्रतिशत ऐसी आबादी वाले गांव सड़कों से जुड़े हैं। पश्चिम बंगाल में यह 62 प्रतिशत तथा गोवा में 86 प्रतिशत है। 1,500 से कम आबादी वाले गांवों के वर्ग में अभी भी अधिकतर गांव सड़कों से जुड़े नहीं हैं। 1,000–1,500 आबादी वाले गांवों के वर्ग में आंध्र प्रदेश में ऐसे 59 प्रतिशत, बिहार में सबसे कम 53 प्रतिशत तथा पश्चिमी बंगाल में लगभग 65 प्रतिशत ऐसे गांव सड़कों से जुड़े हैं।

योजना की मुख्य प्राथमिकता ग्रामीण क्षेत्रों में नई सड़कें उपलब्ध कराना है परंतु मौजूदा सड़कों को भी एक दिए गए मानक के अनुसार सुधारा जाएगा। नई सड़कों के निर्माण पर 34,000 करोड़ रुपये व्यय होने का अनुमान है। इस धनराशि का एक हिस्सा केंद्रीय सड़क कोष से प्राप्त किया जाएगा।

एक अध्ययन के अनुसार 1,000 से कम आबादी वाले गांवों का सड़कों से जुड़ाव सबसे कम है। 1995 के आंकड़ों के अनुसार अरुणाचल प्रदेश में मात्र 20 प्रतिशत गांव ही सड़कों से जुड़े थे। अन्य बहुत से राज्यों में भी ऐसी ही स्थिति पाई गई है जहां मात्र 20 प्रतिशत से 30 प्रतिशत गांव ही सड़कों से जुड़े हैं। जैसे – मध्य प्रदेश में 22 प्रतिशत, महाराष्ट्र में 25 प्रतिशत, उड़ीसा में 29 प्रतिशत तथा राजस्थान में मात्र 24 प्रतिशत गांव ही सड़कों से जुड़े हैं। गोवा तथा केरल में शत–प्रतिशत गांव इस आबादी वर्ग के अंतर्गत शहरों से जुड़े हैं। परंतु इन दोनों राज्यों में इस वर्ग में आने वाले गांवों की संख्या बहुत कम है।

प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना

उपर्युक्त परिदृश्य में प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना एक प्रशंसनीय एवं ग्रामीण सड़क

व्यवस्था के लिए उपयोगी योजना है। 15 अगस्त 2000 को घोषित इस योजना का आरंभ करने पर स्वयं प्रधानमंत्री ने आशा व्यक्त की कि इससे ग्रामीण क्षेत्रों के सामाजिक आर्थिक विकास में तेजी आएगी। इस योजना के अनुसार एक हजार से अधिक आबादी वाले सभी गांव अगले तीन वर्षों में तथा 500 से अधिक आबादी वाले सभी गांव सन् 2007 तक वर्ष भर चलने वाली सड़कों द्वारा देश के अन्य मार्गों से जुड़ जाएंगे। इसके अलावा पांच लाख किलो मीटर लंबी वर्तमान सड़कों की मरम्मत भी की जाएगी। इस योजना पर 60,000 करोड़ रुपये खर्च होंगे तथा उसमें कुशलता, पारदर्शिता तथा जवाबदेही को शामिल किया गया है। केंद्र द्वारा शत–प्रतिशत प्रायोजित इस योजना का एक लक्ष्य दसवीं योजना के अंत तक 1.4 लाख गांवों को सड़क प्रदान करना है। योजना की मुख्य प्राथमिकता ग्रामीण क्षेत्रों में नई सड़कें उपलब्ध कराना है परंतु मौजूदा सड़कों को भी एक दिए गए मानक के अनुसार सुधारा जाएगा। नई सड़कों के निर्माण पर 34,000 करोड़ रुपये व्यय होने का अनुमान है। इस धनराशि का एक हिस्सा केंद्रीय सड़क कोष से प्राप्त किया जाएगा। वर्तमान में सरकार ग्रामीण सड़क कार्यक्रमों पर 5,000 करोड़ रुपये खर्च कर सकती है। वर्ष 1999–2000 के बजट में डीजल पर एक रुपया प्रति लीटर उपकर (सी ई एस एस) लगाया गया जिससे 5,000 करोड़ रुपये प्राप्त होने की संभावना व्यक्त की गई। इसके दो हिस्से होंगे जिसमें से आधा भाग (50 प्रतिशत) सड़क फंड में हस्तांतरित कर दिया जाएगा जिससे सड़क निर्माण के लिए पर्याप्त धन उपलब्ध हो सके। एक राष्ट्रीय ग्रामीण सड़क विकास एजेंसी स्थापित करने की भी योजना है जिससे ग्राम सड़क योजना के कार्यों की निगरानी की जा सके। यह एजेंसी सड़क निर्माण परियोजना के तकनीकी पक्षों का परीक्षण करने के साथ–साथ गुणवत्ता नियंत्रण तथा प्रबंधन करेगी। एजेंसी निरंतर कार्यक्रम की प्रगति रिपोर्ट समय–समय पर देती रहेगी। सड़क योजना के अंतर्गत सड़क निर्माण कार्यक्रमों के लिए राज्यों को धन उनकी परियोजना रिपोर्ट के अनुसार दिया जाएगा। परियोजनाएं खंड और जिला स्तर के प्रशासन द्वारा क्रियान्वित होंगी जहां ग्रामीण सड़कों के निर्माण तथा रख–रखाव में पंचायती राज संस्थाओं की प्रमुख भूमिका होगी। राज्यों से प्राप्त परियोजना प्रस्तावों का केंद्रीय स्तर पर एक विशेष समिति अवलोकन करेगी जिसका प्रमुख ग्रामीण विकास सचिव होगा।

निःसदेह प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना विकेंद्रीकृत नियोजन के कारण ग्रामीण विकास के क्षेत्र में मील का पत्थर साहित हो सकती है चूंकि ग्रामीण सड़कें ग्रामीण आधारभूत संरचना का प्रमुख अंग हैं। अतः यह योजना ग्रामीण क्षेत्र के विकास को गति दे सकती है। परिवहन तथा विपणन दोनों ही सुविधाजनक होने से कृषकों को काफी राहत मिलने की संभावना है परंतु इस योजना की सफलता इसके सफल तथा प्रभावी क्रियान्वयन तथा राज्य सरकारों की गम्भीरता पर ही निर्भर करेगी। विभिन्न संभावित स्तरों पर सड़क निर्माण कार्यक्रमों की प्रगति की जांच, सड़क निर्माण में प्रयुक्त सामग्री की गुणवत्ता का परीक्षण करना अति आवश्यक होगा। योजना के अंतर्गत पारदर्शिता और जवाबदेही को शामिल करना तथा पंचायती राज संस्थाओं को प्रमुख भूमिका देना इस योजना की सफलता के लिए अच्छे प्रयास हैं। यह ध्यान देना होगा कि अत्यधिक कम आबादी वाले गांवों को सड़कें मिल सकें क्योंकि ऐसे वर्ग के गांवों में सड़कों का प्रतिशत विभिन्न राज्यों में अभी भी कम है। ❑

वरिष्ठ प्रवक्ता, अर्थशास्त्र विभाग,
दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर

कृपया ध्यान दें

कुरुक्षेत्र के संपादकीय पत्र–व्यवहार का पता बदल गया है। अतः पाठकों–लेखकों से अनुरोध है कि **कुरुक्षेत्र** से पत्र–व्यवहार करते समय अथवा अपनी रचनाएं–लेख भेजने के लिए निम्नांकित पते का ही उपयोग करें :

संपादक, **कुरुक्षेत्र**, कमरा नं. 655/661, विंग 'ए',
गेट नं. 5, निर्माण भवन,
ग्रामीण विकास मंत्रालय, नई दिल्ली–110011

हमारे विज्ञापन और प्रसार व्यवस्थापक के पते में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

ग्रामीण विकास में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों का योगदान

डा. नरेंद्रपाल सिंह

भारत में कृषि मानसून पर आधारित है। यहां ऋण गरीब लोगों को देने के कारण ऋणों के अनर्जक होने की संभावना राष्ट्रीयकृत बैंकों की तुलना में अधिक रहती है। ग्रामीण, क्षेत्रों में जहां ग्रामीण बैंक की शाखाएं पिछले वर्षों में खोली गईं तथा उस क्षेत्र का कुछ विकास हो गया तभी सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों द्वारा वहां पर शाखाएं खोली गई हैं। वहां लोगों द्वारा पैसा तो सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों में अधिक जमा कराया जाता है लेकिन ऋण की प्रक्रिया ग्रामीण बैंकों में आसान होने के कारण ऋण ग्रामीण बैंकों से लिया गया है। इस कारण इन बैंकों की अंश पूंजी और रक्षित निधियां काफी कम हो गई हैं।

ग्रामीण क्षेत्रों की वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों का बहुत बड़ा योगदान है। ग्रामीण क्षेत्रों में वित्त की सुविधा उपलब्ध कराने का जिम्मा सर्वप्रथम सहकारिता आंदोलन को सौंपा गया था परंतु ग्रामीणों को इसका पूरा फायदा नहीं मिल सका। भारत में अधिकांश जनसंख्या गांव में निवास कर रही है और उसके सामने ऋणग्रस्तता की समस्या लगातार बनी रहती है। ग्रामीण क्षेत्रों में संस्थागत ऋणों की असाधारण उपलब्धता के बावजूद इस बात को महसूस किया गया कि ग्रामीण समुदाय के गरीब लोगों की ऋण आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए और अधिक सुनियोजित ढंग से प्रयास करने की आवश्यकता है। इस भावना के अनुरूप भारत सरकार ने श्री एम. नरसिंह्मन की अध्यक्षता में एक कार्यदल नियुक्त किया। इस कार्यदल को ग्रामीण लोगों की ऋण आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विस्तृत जांच करने का कार्य सौंपा गया। कार्यदल ने अपनी रिपोर्ट 30 जुलाई, 1975 को प्रस्तुत की। भारत सरकार ने कार्यदल की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और 26 सितंबर, 1975 को भारत के राष्ट्रपति द्वारा क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक अध्यादेश, 1975 जारी कर ग्रामीण बैंक की स्थापना की घोषणा की गई।

क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों का उद्देश्य छोटे और सीमांत किसानों, खेतिहर मजदूरों, कारीगरों और लघु उद्यमियों को ऋण तथा अन्य सुविधाएं उपलब्ध कराना है ताकि ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि, व्यापार, व्यवसाय, उद्योग तथा अन्य उत्पादक कार्यकलापों का विकास किया जा सके। ग्रामीण बैंकों की स्थापना के पीछे प्रमुख उद्देश्य यह भी था कि शिक्षित ग्रामीण युवकों को रोजगार प्रदान करके ग्रामीण क्षेत्र का विकास किया जाए तथा उन्हें राज्य सरकार के कर्मचारियों के समान वेतन देकर ग्रामीण बैंक की लागत को न्यूनतम स्तर पर रखा जाए।

सर्वप्रथम गांधी जयंती के अवसर पर दो अक्तूबर, 1975 को पांच क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक स्थापित किए गए जिनमें दो उत्तर प्रदेश के मुरादाबाद और गोरखपुर में, एक हरियाणा के भिवानी में, एक राजस्थान के जयपुर में तथा पश्चिमी बंगाल के माल्दा जिलों में स्थापित किए गए। स्थापना के समय ग्रामीण बैंकों की अधिकृत पूंजी एक करोड़ रुपये और चुकता पूंजी 25 लाख रुपये रखी गई परंतु बाद में केलकर समिति की सिफारिशों के आधार पर अधिकृत पूंजी 5 करोड़ रुपये तथा चुकता पूंजी एक करोड़ रुपये तक बढ़ा दी गई। क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक की अंश पूंजी में केंद्र सरकार का 50 प्रतिशत, संबंधित राज्य सरकार का 15 प्रतिशत और प्रायोजक बैंक का 35 प्रतिशत का योगदान रखा गया।

क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों का कार्य निष्पादन

196 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों में से 193 बैंकों के वर्ष 1999–2000 के लिए परीक्षित लेखा प्रमाण उपलब्ध हैं। क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों के वित्तीय निष्पादन के विश्लेषण से पता चलता है कि उनकी लाभप्रदता में सुधार आया है। 1999–2000 के दौरान 193 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों में से लाभ अर्जित करने वाले बैंकों की संख्या 160 थी, जबकि 1998–99 के दौरान

196 बैंकों में से 147 बैंकों ने लाभ अर्जित किया था। इन बैंकों का परिचालनगत लाभ 1998–99 के दौरान 335.0 करोड़ रुपये था जो बढ़कर 1999–2000 के दौरान 530.7 करोड़ रुपये हो गया। इस प्रकार यह वृद्धि 58.4 प्रतिशत की रही। इन बैंकों का निबल लाभ 1998–99 के दौरान 247.8 करोड़ रुपये से बढ़कर 1999–2000 में 428.9 करोड़ रुपये (73.1 प्रतिशत) हो गया। क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की कुल आस्तियों के प्रति परिचालनगत लाभों का अनुपात 1998–99 के 0.91 प्रतिशत से बढ़कर 1999–2000 में 1.37 प्रतिशत हो गया और निबल आस्तियों के प्रति निबल लाभ का अनुपात भी 1998–99 के 0.67 प्रतिशत से बढ़कर 1999–2000 में 1.11 प्रतिशत हो गया। क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों के लाभों से यह वृद्धि मुख्यतः कुल आस्तियों के प्रति ब्याज आय के अनुपात में वृद्धि और अंशतः कुल आस्तियों के प्रति मध्यस्थता लागत के अनुपात में गिरावट के कारण रही। क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की कीमत लागत अंतर 1999–2000 के 3.16 प्रतिशत से थोड़ा सा बढ़कर 1999–2000 में 3.53 प्रतिशत हो गया।

मार्च 1999 के अंत में कृषि के प्रयोजन हेतु संवितरित ऋण और अग्रिम, कुल अग्रिमों का 46.3 प्रतिशत थे। कृषि ऋणों का सबसे बड़ा भाग अल्पावधिक फसल ऋणों के रूप में था। इस समय 1,756.6 करोड़ रुपये का अल्पावधि फसल ऋण था जो कुल कृषि अग्रिमों का 68.6 प्रतिशत था, जबकि मियादी ऋणों का हिस्सा 30.2 प्रतिशत था। मार्च 1999 के अंत की स्थिति के अनुसार, गैर कृषि अग्रिमों (जैसे ग्रामीण शिल्पकारों, लघु और कुटीर उद्योगों, खुदरा व्यापारियों और स्वरोजगारी, इत्यादि) तथा अन्य को दिए गए कुल ऋणों और अग्रिम का 53.7 प्रतिशत था।

क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की बकाया जमा राशियां 1999 में 26,319 करोड़ रुपये से बढ़कर 2000 में 31306 करोड़ रुपये (19 प्रतिशत) हो गई

क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक और सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों में अनुपार्जक आस्तियों का वर्गीकरण
(प्रतिशत में)

वर्ष	मानक आस्तियां		गैर–निष्पादक आस्तियां							
			अवमानक		संदिग्ध		हानिप्रद		कुल	
	क्षे.ग्रा. बैंक	सा.क्षे. के बैंक	क्षे.ग्रा. बैंक	सा.क्षे. के बैंक	क्षे.ग्रा. बैंक	सा.क्षे. के बैंक	क्षे.ग्रा. बैंक	सा.क्षे. के बैंक	क्षे.ग्रा. बैंक	सा.क्षे. के बैंक
1996	56.9	82.9	9.3	4.0	28.0	10.7	5.8	1.9	43.1	18.0
1997	63.2	82.2	8.2	5.1	24.0	10.7	4.6	2.1	36.8	17.8
1998	67.2	84.0	8.5	5.1	20.4	9.1	3.9	1.9	32.8	16.0
1999	72.2	84.1	8.2	4.9	17.0	9.0	2.7	2.0	27.9	15.9
2000	उ.न.	86.0	उ.न.	4.3	उ.न.	8.0	उ.न.	1.7	उ.न.	14.0

स्रोत : रिपोर्ट ऑन ट्रेंड एंड प्रोग्रेस आफ बैंकिंग इन इंडिया 1999–2000.
क्षे.ग्रा. – क्षेत्रीय ग्रामीण, सा.क्षे. – सार्वजनिक क्षेत्र, उ.न. – उपलब्ध नहीं

हैं। आस्तियों के मामले में बैंक ऋण जो 1998–99 के दौरान 11,016 करोड़ रुपये था वह वर्ष 2000 में 15 प्रतिशत बढ़कर 12,663 करोड़ रुपये हो गया। क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों के निवेश में सुधार हुआ है। निवेश जमा अनुपात वर्ष 1999 के मुकाबले वर्ष 2000 में क्रमशः 19.7 प्रतिशत से बढ़कर 20 प्रतिशत तक पहुंच गया है। निवेश और जमा की तुलना में ऋण का जो अनुपात 1999 में 63 प्रतिशत था वह घटकर वर्ष 2000 में 62.1 प्रतिशत तक आ गया है।

ग्रामीण बैंकों में अनुपार्जक आस्तियां

क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों के सामने एक महत्वपूर्ण समस्या अनुपार्जक या अनर्जक आस्तियों की

क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों के सामने आने वाली एक महत्वपूर्ण समस्या अनुपार्जक आस्तियों की है। अनुपार्जक अथवा अनर्जक आस्तियां किसी बैंक या वित्तीय संस्थान द्वारा प्रदान किए गए वे ऋण अथवा अग्रिम होते हैं जिन्हें किसी ऋणी ने देय तिथि तक चुकता नहीं किया है अथवा उसके ब्याज या मूलधन को चुकाने में विलंब हो रहा है।

है। अनर्जक आस्तियां किसी बैंक या वित्तीय संस्थान द्वारा प्रदान किए गए वे ऋण अथवा अग्रिम होते हैं जिन्हें किसी ऋणी ने देय तिथि तक चुकता नहीं किया है अथवा उसके ब्याज या मूलधन को चुकाने में विलंब हो रहा है। मियादी ऋण के संबंध में ब्याज अथवा मूलधन की किश्त 180 दिन से अधिक समय के लिए बकाया रहे, कृषि प्रयोजनों के लिए मंजूर किसी अग्रिम के मामले में ब्याज या मूलधन की किस्त दो फसल मौसमों के लिए बकाया रहे परंतु वह दो छमाहियों से अधिक समय के लिए बकाया नहीं हो।

दी गई सारणी के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों की तुलना में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों में अनर्जक आस्तियों का प्रतिशत बहुत ऊंचा है, जो कि क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों के लिए चिंता का विषय है। वर्ष 1996 में सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों में जहां अनर्जक आस्तियां कुल 18 प्रतिशत थीं वहीं क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों में यह प्रतिशत 43.1 था जो सार्वजनिक बैंकों के मुकाबले ढाई गुणा अधिक है। वर्तमान में यह प्रतिशत कम हो रहा है लेकिन 1999 में यह घटकर 27.9 प्रतिशत बना हुआ था। नरसिंह्मन समिति की सिफारिशों के अनुसार अनर्जक आस्तियां वर्ष 2000 तक 5 प्रतिशत तथा 2002 तक 3 प्रतिशत तक होनी चाहिए। क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों में अनर्जक आस्तियों का प्रतिशत ऊंचा होने का कारण यह है कि इन बैंकों ने 90 प्रतिशत से अधिक शाखाएं पिछड़े, दुर्गम तथा दूरदराज की पिछड़ी जातियों और ग्रामीण बहुल क्षेत्रों में खोली हैं। समृद्ध राज्यों के मुकाबले पिछड़े राज्यों में इन बैंकों की शाखाएं अधिक हैं। इन बैंकों ने ऋण उन्हीं क्षेत्रों में प्रदान किए हैं जहां पर व्यापारिक बैंक या सहकारी बैंक असफल रहे हैं। क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों द्वारा कृषि, कृषि पर आधारित धंधों, लघु उद्योग और व्यवसाय तथा दस्तकारी हेतु ऋण प्रदान किए हैं। भारत में कृषि मानसून पर आधारित है यहां ऋण गरीब लोगों को देने के कारण ऋणों के अनर्जक होने की संभावना राष्ट्रीयकृत बैंकों की तुलना में अधिक रहती है। ग्रामीण क्षेत्रों में जहां ग्रामीण बैंक की शाखाएं पिछले वर्षों में खोली गईं तथा उस क्षेत्र का कुछ विकास हो गया तभी सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों द्वारा वहां पर शाखाएं खोली गई हैं। वहां लोगों द्वारा पैसा तो सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों में अधिक जमा कराया जाता है लेकिन ऋण की प्रक्रिया ग्रामीण बैंकों में आसान होने के कारण ऋण ग्रामीण बैंकों से लिया गया है। इस कारण इन बैंकों की अंश पूंजी और रक्षित निधियां काफी कम हो गई हैं।

स्थापना से लेकर 90 के दशक तक ग्रामीण बैंकों द्वारा सरकारी ऋण योजनाओं पर अधिक बल दिया गया तथा निक्षेपों पर ध्यान नहीं दिया गया। ऋणों की वापसी समय पर न होने से और '90 के दशक की शुरुआत से 'समान काम के बदले समान वेतन' का निर्णय लागू होने से वेतन मद में बैंकों के खर्चे काफी बढ़ गए। परिणामस्वरूप संचित घाटा बढ़ता चला गया। सरकार द्वारा वित्तीय सुधार के कार्यक्रम लागू किए गए और सरकारी योजनाओं तथा अग्रिमों पर प्रतिबंध लगाया गया और सामाजिक लक्ष्यों को पूरा करने की बजाय लाभप्रद कारोबार करने को कहा गया। उसी का परिणाम है कि अनर्जक आस्तियों में कमी आई तथा अब घाटे में चलने वाले कुल 33 ग्रामीण बैंक ही रह गए हैं जबकि 160 बैंक लाभ अर्जक श्रेणी में पहुंच गए।

ग्रामीण बैंकों के सामने विकास में आने वाली बाधाओं में ग्रामीण अशिक्षा, अंध–विश्वास और रूढ़िवादिता, भाग्यवादिता तथा निराशा–वादिता, आर्थिक प्रगति की भावना का अभाव, बचत और निवेश दर में कमी, औद्योगीकरण की धीमी गति, लघु और कुटीर उद्योगों का धीमा विकास, ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के कम अवसर, कृषि, डेयरी, मत्स्य पालन, बागवानी तथा मधुमक्खी पालन में सरकारी प्रोत्साहन की कमी रही है।

ग्रामीण बैंकों के सामने विकास में आने वाली बाधाओं में ग्रामीण अशिक्षा, अंधविश्वास और रूढ़िवादिता, भाग्यवादिता तथा निराशावादिता, आर्थिक प्रगति की भावना का अभाव, बचत और निवेश दर में कमी, औद्योगीकरण की धीमी गति, लघु और कुटीर उद्योगों का धीमा विकास, ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के कम अवसर, कृषि, डेयरी, मत्स्य पालन, बागवानी तथा मधुमक्खी पालन में

सरकारी प्रोत्साहन की कमी रही है। ग्रामीण क्षेत्रों में ऋणों की वसूली में कमी का कारण केंद्र और विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा प्राकृतिक आपदाओं के कारण किए गए ऋण माफी कार्यक्रम भी हैं। इन कदमों ने ग्रामीण जनता की इस भावना को प्रबल किया है कि ऋण नहीं चुकाने से सरकार एक दिन ऋण माफ कर देगी। इसी कारण चूककर्ताओं की संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि हो गई है। जनता ऋण एवं अनुदान राशि का प्रयोग प्रतिभूति खरीद कर सामाजिक कार्यों में कर लेती है तथा ऋण राशि से खरीदी गई प्रतिभूति बेचकर बैंकों के ऋणों को नहीं चुकाया जाता है। पशु खरीदने के लिए प्रदान किए गए ऋणों में पशु के मर जाने पर बीमा दावा हेतु बैंकों को सूचित नहीं किया जाता है। जनता के मन में यह बात भी बैठ गई है कि बैंक ऋण तो सरकारी धन है अतः इसे असानी से चुकाने की आवश्यकता नहीं है और गांव के प्रभावशाली व्यक्ति खुद ऋण अदा न करने के चक्कर में अन्य ऋणियों को भी दिग्भ्रमित कर देते हैं।

क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की असफलता के लिए ऋणियों तथा ऋण की सही सीमा का निर्धारण न होना भी एक कारण है। किस्तों का सही निर्धारण न करना तथा अनावश्यक शर्तें जोड़ना, ऋण दस्तावेजों को अनावश्यक बोझिल करना तथा उनमें कमी छोड़ना, लक्ष्य प्राप्ति के लिए ऋण प्रदान करना, अन्य वित्तीय संस्थाओं से आपसी समन्वय न होना, ऋण वितरण के बाद निगरानी न करना, राजनैतिक दबाव में ऋण वितरण करना, महाजन–साहूकारों द्वारा समानांतर ऋण व्यवस्था तथा जमाओं पर ब्याज दर की अधिकता भी क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की प्रमुख समस्याएं हैं।

सुधार के सुझाव

देश की ग्रामीण अर्थव्यवस्था में कृषि और उद्योगों के लिए प्रोत्साहन के लिए ग्रामीण बैंक अति महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं। क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों में आधुनिकीकरण तथा मशीनीकरण के कारण अतिरिक्त मानव शक्ति का प्रयोग अतिरिक्त शाखाओं का विस्तार कर और ऋण वसूली के लिए प्रयोग किया जाना चाहिए। प्रत्येक कर्मचारी को प्रभावशाली प्रशिक्षण द्वारा अभिप्रेरित किया जाना चाहिए। उत्कृष्ट कार्य के आधार पर पदोन्नति और कार्य तैनाती सुनिश्चित कर लक्ष्यों के प्रति जागरूक बनाना चाहिए। ग्रामीण जनता के मन में यह भावना जागृत करनी चाहिए कि बैंक द्वारा प्रदान किया गया ऋण चुकाना उनका उत्तरदायित्व है। प्राप्त ऋण उद्देश्यों के अनुसार ही प्रयोग किया जाए तथा अन्य कार्यों में प्रयोग न किया जाए। ऋण समय पर चुकाने पर समाज और बैंक के समक्ष उनकी छवि अच्छी बनती है। ऋण राशि से खरीदी गई संपत्ति की हानि होने पर बीमा का लाभ बैंकों को दिलाया जाए।

ग्रामीण जनता के मन में यह भावना जागृत करनी चाहिए कि बैंक द्वारा प्रदान किया गया ऋण चुकाना उनका उत्तरदायित्व है। प्राप्त ऋण उद्देश्यों के अनुसार ही प्रयोग किया जाए तथा अन्य कार्यों में प्रयोग न किया जाए। ऋण समय पर चुकाने पर समाज और बैंक के समक्ष उनकी छवि अच्छी बनती है। ऋण राशि से खरीदी गई संपत्ति की हानि होने पर बीमा का लाभ बैंकों को दिलाया जाए।

क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों में जमा संग्रहण पर अधिक ध्यान न देने के कारण जमा राशि और उधार दी गई राशि के बीच असंतुलन पैदा हो गया है। अतः स्थिति से निपटने के लिए ग्रामीण बैंकों की शाखाओं का ऐसे दूसरे स्थानों पर स्थानांतरण जरूरी हो गया है जहां वाणिज्यिक बैंकों की शाखा उपलब्ध न हों। घाटे में चल रही शाखाओं का दूसरी शाखाओं के साथ विलय कर देना चाहिए। ग्रामीण बैंकिंग की सफलता की मुख्य कसौटी ऋणों की वसूली है। सरकार पहले ही ग्रामीण क्षेत्रों में सस्ती दरों पर ऋण मुहैया करा रही है और ऐसे में ऋण की वसूली न हो तो बैंकों को दोहरी चोट पहुंचती है। अतः ऋण वसूली का लक्ष्य प्राथमिकता के आधार पर रखना चाहिए, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों का पुनर्गठन किया जाना चाहिए, इन बैंकों को वित्तीय सहायता देकर और घाटे की पूर्ति कर आगे के लिए इनका मार्ग प्रशस्त करना चाहिए। वाणिज्यिक बैंकों की तरह इन बैंकों को सभी व्यावसायिक गतिविधियों में व्यापार करने की भी छूट प्रदान की जानी चाहिए तथा क्षेत्र के साहूकार और महाजनों पर भी नियंत्रण करना चाहिए। क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों को विशेषरूप से ध्यान रखना चाहिए कि वह अनुत्पादक ऋण प्रदान न करें और कृषि के साथ–साथ औद्योगिक ऋणों को भी प्राथमिकता प्रदान करें। ग्रामीण बैंकों से संबंधित नीतिगत निर्णय नाबार्ड, प्रायोजक बैंक अथवा सरकार द्वारा लिए जाते रहे हैं, जो कि स्वयं इन बैंकों द्वारा या किसी एक संस्था द्वारा लिए जाने चाहिए। राष्ट्रीय स्तर पर कर्मचारियों के लिए वेतन, भत्ते, स्थानांतरण, पदोन्नति और निष्कासन संबंधी एकसमान नियम बनाए जाने चाहिए तथा स्थानीय लोगों की अधिकाधिक सहभागिता सुनिश्चित की जानी चाहिए ताकि ग्रामीणों को सरकारी योजनाएं अच्छी तरह समझाई जा सकें।

उपर्युक्त कार्यों के लिए स्थानीय विकास अधिकारी, ग्राम प्रधान, सरपंच, तहसीलदार तथा खंड विकास अधिकारी की सहायता से ग्रामीण जनता को, गांव–गांव में शिविर लगाकर अभियान के तहत ऋण वितरण और वसूली हेतु प्रोत्साहित करना चाहिए। आज वैश्वीकरण और उदारीकरण का युग है। अर्थव्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र में नए–नए कार्यक्रम और नीतियां बनाई जा रही हैं। अतः इस दौर में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों को भी अपनी कार्य प्रणाली में परिवर्तन लाना होगा और अपने आपको लाभप्रद संस्था के रूप में स्थापित करना होगा। तब क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक ग्रामीण विकास में अपनी भूमिका बेहतर तरीके से निभा सकेंगे। ❑

वरिष्ठ प्रवक्ता, वाणिज्य विभाग,
साहू जैन कालेज
नजीबाबाद (उ.प्र.)–246763

सहकारिता और महिला सशक्तीकरण

रेणु अरोड़ा

महिला सशक्तीकरण के इस वर्ष में जहां एक वातावरण तैयार किया जा रहा है वहीं महिलाएं भी हर क्षेत्र में आगे आकर अपनी प्रभावी भूमिका निभाने के लिए प्रयासरत हैं। इस क्रम में राजस्थान के सहकारिता विभाग द्वारा ग्रामीण महिलाओं के सशक्तीकरण के लिए दो प्रमुख योजनाएं आरंभ की गई हैं। इनमें महिला सहकारी समितियों का गठन और उन समितियों के माध्यम से अपनी बचत योजना के तहत मिनी महिला बैंकों का गठन किया जाएगा जिसका संचालन पूर्णरूपेण महिलाएं ही करेंगी।

राज्य का पहला मिनी महिला बैंक चुरू के सालसर में प्रारंभ हो गया है। इस बैंक में प्रारंभ में एक लाख 52 हजार रुपये जमा किए गए। इस अवसर पर सहकारिता सचिव ने महिला विकास योजनाओं के तहत 20–20 हजार के 20 चेक प्रदान किए। इसके अतिरिक्त इस अवसर पर महिलाओं को सहकारी किसान कार्ड भी दिए गए।

इन मिनी बैंकों का मुख्य उद्देश्य महिलाओं को सहकारिता के आधार पर आर्थिक गतिविधियों के संचालन के अवसर उपलब्ध कराकर उन्हें शक्ति प्रदान करना और गांव में ही महिला मिनी बैंकों का विकास कर उनकी आवश्यकता के अनुरूप सरल और सुगम साख सुविधा उपलब्ध कराना है। इसके अतिरिक्त इन मिनी बैंकों के माध्यम से बचत को बढ़ावा देना तथा ग्रामीण महिलाओं को आर्थिक सुदृढ़ीकरण का महत्व समझाना भी इसका लक्ष्य है। हमारे देश की ग्रामीण महिलाएं पुरुषों से कहीं ज्यादा श्रम करती हैं परंतु वे अपने श्रम को अर्थ से नहीं जोड़तीं। इसलिए अधिक श्रमशील होने के बावजूद वे आर्थिक रूप से सुदृढ़ नहीं होतीं। यदि इन महिलाओं का श्रम आर्थिक विकास से जुड़ जाए तो

हमारे महिला सशक्तीकरण वर्ष मनाने के समस्त सरोकार प्रगति के पथ पर अग्रसर होते दिखाई देंगे। इसी क्रम में एक योजना के तहत राजस्थान राज्य सहकारी भूमि विकास बैंक की 36 प्राथमिक सहकारी भूमि विकास बैंकों के माध्यम से महिलाओं को आसानी से 25 हजार रुपये तक का वित्तीय ऋण आसान किश्तों पर उपलब्ध कराया जा रहा है। योजना के अंतर्गत महिलाओं को व्यक्तिगत आधार पर दो व्यक्तियों को जमानत पर ऋण उपलब्ध कराया जाता है।

उल्लेखनीय है कि राज्य के सहकारी बैंकों द्वारा यह ऋण तीन प्रतिशत हिस्सा राशि, एक प्रतिशत प्रशासनिक शुल्क और आसान दर पर उपलब्ध कराया जाता है।

यह योजना बैंक द्वारा वर्ष 1999–2000 में प्रारंभ की गई थी। तब से जून 2001 तक 855 महिलाओं को 2,02,43,000 का ऋण उपलब्ध करवा कर लाभान्वित किया जा चुका है।

इस योजना के माध्यम से महिलाएं कुटीर और ग्रामीण उद्योगों के साथ–साथ हस्तशिल्प के छोटे–मोटे रोजगार साधनों के लिए ऋण ले सकती हैं। योजना के अंतर्गत वे मिट्टी के बर्तन, मिट्टी, लकड़ी प्लास्टिक के खिलौने, टोकरी, पापड़, मगोड़ी, अचार, मुरब्बा, परंपरागत आकर्षक बुनाई–कढ़ाई, लाख इत्यादि के कार्य संपादित कर सकती हैं।

ग्रामीण महिलाओं के सशक्तीकरण के लिए समय–समय पर अनेकानेक योजनाएं बनाई जाती हैं, परंतु इनका लाभ उन्हें तभी मिल सकता है जब योजनाएं उन तक पहुंचाने के भी सद्प्रयास किए जाएं। इसके अतिरिक्त इन योजनाओं का लाभ पहुंचाने की कोशिश भी पुरजोर तरीके से हो। लाभ देने वाला योजना पर लाभान्वित होने वाले का हक समझे, स्वयं को दाता नहीं – तभी संभव हो सकेगा सहकारिता के माध्यम से ग्रामीण महिलाओं का वास्तविक सशक्तीकरण। ❑

सहायक जनसंपर्क अधिकारी,
सहकारिता विभाग, जयपुर

ग्रामीण क्षेत्रों में तकनीकी हस्तांतरण और साक्षरता

गिरिजा सतीश*

मोटे तौर पर साक्षरता को अक्षर ज्ञान से ही जोड़कर देखा जाता है। यह एक अधूरी बात होगी। दरअसल, साक्षरता का फलक व्यापक है। इसमें अंकों–अक्षरों का लिखना–पढ़ना और समझना तो है ही, व्यावहारिक ज्ञान और चेतना जागरण के पक्ष भी शामिल हैं। एक साक्षर महिला या पुरुष अपने जीवन को बेहतर, व्यावहारिक ढंग से जी सके – इसकी तैयारी भी साक्षरता के दायरे में ही आएगी। उदाहरण के लिए, यदि कोई किसान है तो उसे जानकारी रहनी चाहिए कि किस मौसम में कौन सी फसल उगाई जाए। इसके लिए कौन सा खेत उपयुक्त होगा, बीज कैसे होने चाहिए, खाद का अनुपात क्या होगा, खेत के मालगुजारी की रसीद कब कटानी है, हल–बैल/ट्रैक्टर – सिंचाई की व्यवस्था कैसे होगी, कितनी फसल हो सकती है, उसे किस दर में बेचा जाए, क्या लाभ होगा आदि–आदि। तात्पर्य यह कि यदि उस किसान को अपने कार्यों की समग्र जानकारी है और वह उन्हें व्यवहारतः पूरा करने में

* नव भारत जागृति केंद्र, हजारीबाग के संचालक, बिहार प्रदेश लोक समिति के अध्यक्ष

सक्षम है तो उसे काफी हद तक साक्षर माना जाएगा।

साक्षरता का एक तीसरा पहलू भी है; जो हमारी समझ में आज के संदर्भ में अत्यंत ही प्रासंगिक है। यह है अपने आसपास की वस्तुओं, परिस्थितियों और तेजी से बदलते घटनाक्रम पर नजर रखने की काबिलियत। चेतना, अहसास कर पाने की संवेदनशीलता, सही–गलत, न्याय–अन्याय, हित–अहित का अंतर समझ पाने की क्षमता। इसकी बेहद जरूरत है। किसी गांव के लोगों को पता रहना चाहिए कि प्रखंड स्तर पर कौन–कौन सी विकास योजनाएं चल रही हैं, उनके उद्देश्य क्या हैं, क्रियान्वयन का तरीका कैसा है, उससे कौन लाभ उठा सकते हैं, संबंधित गांव कौन–कौन से हैं। महिलाओं को पता हो कि एनीमिया क्या है, उससे कैसे बचा जा सकता है। स्वयं सहायता समूह से क्यों जुड़ा जाए?

साक्षरता सवाल खड़े करती है और उसका उत्तर ढूंढने के लिए लोगों को मजबूर भी करती है। इसमें व्यग्रता है, बाध्यता है – जो एक साक्षर व्यक्तित्व की स्वाभाविकता बन जाती है। साक्षरता इस दौर की जरूरत है। खासकर वंचितों के लिए इसकी अहमियत तो और भी ज्यादा है।

1989–90 में हजारीबाग (झारखंड) के चौपारण प्रखंड में एक साक्षरता अभियान चलाया गया था। इसके परिणाम उत्साहवर्धक थे। इसमें चेतना पक्ष पर भी ध्यान केंद्रित किया गया था। निर्दलीय जनसंगठन लोक समिति के माध्यम से पहले भी लोगों को संगठित करने का काम हो रहा था। हमने पाया कि घरेलू महिलाओं ने उक्त साक्षरता अभियान का सर्वाधिक लाभ उठाया। भले ही अक्षर और अंक ज्ञान की निरंतरता के मामले में कुछ कमजोरी आई हो लेकिन चेतना निर्माण हुआ और वातावरण बदला।

उसी क्षेत्र में हाल के वर्षों में जब हमने वर्मी कम्पोस्ट, फार्म पाउंड, बागवानी आदि कार्यक्रमों को कृषकों के बीच लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया तो काफी सुविधा हुई। साक्षरता की समग्रता इसी तथ्य में है कि इससे अनेक पूर्वाग्रह दूर होते हैं और लोगों की अपनी विश्लेषण क्षमता बढ़ती है। गोबर

गांवों के अनुकूल तकनीक का विकास कर पाने में हम अभी तक सक्षम नहीं हो पाए हैं। तकनीक की सुलभता और स्वीकार्यता का मसला महत्वपूर्ण है। तकनीक हस्तांतरण का अर्थ बहुधा अंग प्रत्यारोपण की तरह लिया जाता है। इस दृष्टिकोण से काम नहीं चलेगा। कितनी भी बढ़िया तकनीक हो लेकिन यदि हमारे सामाजिक–आर्थिक ढांचे में वह सही नहीं उतरती है तो उसका हस्तांतरण संदेहास्पद ही रहेगा।

वही है लेकिन उसके उपयोग की प्रविधि उन्नत हो गई। उसे गड्ढे में फेंकने की बजाय उसमें केंचुए की सहायता से खाद बनाने की तकनीक लोकप्रिय होने लगी। आज चौपारण प्रखंड के गांवों में महिला समूहों ने आगे बढ़ कर यह जैविक खाद बनाने का काम अपने हाथों में लिया है। ग्रामीणों ने छोटे–छोटे तालाब बनाए हैं और उनके किनारे मुर्गी पालन करना शुरू किया है। वे मुर्गियों के बीट को तालाब की मछलियों के लिए आहार के रूप में प्रयुक्त करते हैं।

फिर भी मैं यह बात जोर देकर कहना चाहूंगा कि गांवों के अनुकूल तकनीक का विकास कर पाने में हम अभी तक सक्षम नहीं हो पाए हैं। तकनीक की सुलभता और स्वीकार्यता का मसला महत्वपूर्ण है। तकनीक हस्तांतरण का अर्थ बहुधा अंग प्रत्यारोपण की तरह लिया जाता है। क्षमा करें, इस दृष्टिकोण से काम नहीं चलेगा। कितनी भी बढ़िया तकनीक हो लेकिन यदि हमारे सामाजिक–आर्थिक ढांचे में वह सही नहीं उतरती है तो उसका हस्तांतरण संदेहास्पद ही रहेगा। हमारे यहां बिजली या डीजल आधारित तकनीक एक साधारण कृषक नहीं अपना सकता। बिजली मिलती नहीं है और डीजल के दाम वह मुश्किल से चुका सकता है। ग्रामीण उद्योगों के लिए तो और भी मुश्किल है। उत्पादन का क्षेत्र अब जटिल तकनीकों का क्षेत्र है। कोई भी उत्पादन कुटीर या ग्रामीण उद्योगों के लिए सुरक्षित नहीं है। मौजूदा आर्थिक नीतियां प्रतिकूल हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सिंचाई, खेती, ग्रामोद्योग, कुटीर उद्योग आदि क्षेत्रों में नई–नई तकनीकें आई हैं लेकिन उनके लिए सामाजिक–आर्थिक अनुकूलताओं को उपेक्षित छोड़ दिया गया।

असली तकनीकी हस्तांतरण तो वह है कि उसे एक बार प्रदर्शित करने के बाद ग्रामीण स्वतः उसमें रुचि लें और उसे अपनाने के लिए आगे बढ़ें। इस उत्साह में साक्षरता मददगार सिद्ध होती है।

लिहाजा हमें अपना दृष्टिकोण बदलना पड़ेगा। संभव है कि अपने गांवों में अभी भी ज्यादातर लोग लिखना–पढ़ना नहीं जानते हों लेकिन उनका व्यावहारिक पक्ष मजबूत रहता है। उन पर भरोसा करना चाहिए। यदि उनकी तकनीक या प्रविधियों के मूल में जाएं तो आशा जगती है। क्योंकि वे गांवों के सामाजिक–आर्थिक यथार्थ के निकट हैं। यदि उन्हें ही उन्नत या विकसित करने के प्रयास हों तो ग्रामीणों को ज्यादा लाभ होगा। और ऐसा हो सकता है। उदाहरण के तौर पर कुंए को ही लें। कुंआ हमारे गांवों में पेयजल या सिंचाई के लिए एक मान्य जलस्रोत है। इसकी तकनीक भी सर्वस्वीकार्य है। लेकिन आज इसका अपग्रेडेशन जरूरी है ताकि कुंओं की खुदाई में समय कम लगे, उसमें सालभर भरपूर पानी टिके और कुंआ धंसे नहीं। ग्रामीण इलाकों में तो इसी दृष्टिकोण से काम हो सकता है। स्थानीय संसाधनों और प्रविधियों को और बेहतर तथा उन्नत बनाने का सिलसिला जारी रहना चाहिए। लंबे रास्ते को तय करने का यही तरीका है और साक्षरता इसका पाथेय है। ❑

नव भारत जागृति केंद्र,
ग्राम : अमृतनगर, पो. कोर्रा,
हजारीबाग–825301 (झारखंड)

किसानों द्वारा विकसित तकनीकी और उनका उपयोग

डा. शिवाधार सिंह

आश्चर्य की बात है कि पिछले कई सौ वर्षों में भी किसी भी नई फसल की खोज नहीं हुई। आज जो भी फसलें उगाई जाती हैं वे लगभग सभी सिंधु घाटी की सभ्यता के समय भी उगाई जाती थीं। इन हजार वर्षों में कुछ नई फसलों जैसे ट्रिटिकेल, पोमैहो तथा जानवर जैसे गीप की मनुष्यों द्वारा उत्पत्ति की गई परंतु वे सभी आज भी किसानों द्वारा नहीं अपनाई जातीं।

करीब 10 हजार वर्ष पूर्व जबसे इंसान ने खेती करना आरंभ किया तबसे ही खेती करने के नए–नए तरीकों, फसलों तथा पालतू जानवरों के रखरखाव, पोषण तथा उनकी उत्पादकता बढ़ाने के लिए हमेशा तत्पर रहा है। जो भी ज्ञान लोगों ने अपने अनुभवों के द्वारा अर्जित किया आने वाली पीढ़ियों को देते गए, इस तरह खेती के ज्ञान का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में स्थानांतरण होता गया तथा खेती करने के तमाम नए–नए तरीकों में वृद्धि होती गई और हमारी कृषि का विकास निरंतर होता गया।

आज जितनी भी किस्म की फसलें (करीब 150 प्रकार) तथा खेती योग्य पालतू जानवरों को हम उपयोग में ला रहे हैं, उनका विकास दस–बीस वर्षों में नहीं हुआ, बल्कि जबसे इंसान ने खेती करना शुरू किया तभी से उसके निरंतर प्रयासों से यह संभव हो सका। आज जितनी भी तरह की फसलें उगाई जाती हैं उनकी बुआई का समय, फूलने का समय, पकने की अवस्था और अवधि, उनकी विशेष जलवायु तथा मिट्टी की आवश्यकता, मिट्टी की उर्वरता और फसलों की उत्पादकता बढ़ाने के तरीके, फसलों की भौगोलिक स्थिति, फसलों का पोषण मूल्य, उनकी विभिन्न उपयोगिता, तथा खेती में काम आने वाले जानवरों की विभिन्न उपयोगिता, उनके पोषण और रखरखाव के तरीके सदियों से एक पीढ़ी से दूसरे पीढ़ी तक निरंतर चले आ रहे हैं। उसी दौरान तमाम नए–नए तरीके जुड़ते गए और इस तरह कृषि का विकास होता गया जिससे बढ़ती हुई मानव जनसंख्या की खाद्य आपूर्ति होती गई। पिछली सदी के आरंभ से कुछ वर्ष पहले ही शायद कृषि अनुसंधान की शुरुआत हुई ऐसा माना जाता है क्योंकि इसके पहले किसी तरह के कृषि अनुसंधान का जिक्र हमारे इतिहास में नहीं है। आजतक कृषि में जो भी विकास हुआ उसका सबसे ज्यादा श्रेय प्राचीन काल से खेती करने वाले किसानों को जाता है क्योंकि जबसे अनुसंधान की शुरुआत हुई तबसे कृषि के तमाम नए–नए तरीकों में वृद्धि जरूर हुई परंतु हमारे पूर्वजों द्वारा विकसित कृषि के तरीकों में कोई मूल परिवर्तन नहीं हुआ, सिर्फ फसलों तथा पालतू खेती योग्य जानवरों की उत्पादकता में वृद्धि हुई वह भी पर्यावरण की कीमत पर यानी उसको प्रदूषित करके। आश्चर्य की बात है कि पिछले कई सौ वर्षों में भी किसी भी नई फसल की खोज नहीं हुई। आज जो भी फसलें उगाई जाती हैं वे लगभग सभी सिंधु घाटी की सभ्यता के समय भी उगाई जाती थीं। इन हजार वर्षों में कुछ नई फसलों जैसे ट्रिटिकेल, पोमैहो तथा जानवर जैसे गीप की मनुष्यों द्वारा उत्पत्ति की गई परंतु वे सभी आज भी किसानों द्वारा नहीं अपनाई जातीं। क्योंकि वे शायद आज भी किसी खास मकसद को पूरा करने में सक्षम नहीं हैं और उनकी उत्पादकता तथा उपयोगिता सीमित है। किसानों ने जो भी ज्ञान अर्जित किया वह या तो उन्होंने अपने पूर्वजों से सीखा या फिर अपने कार्य करते रहने के दौरान अनुभवों से। आज की अपेक्षा पहले की खेती ज्यादा सुरक्षित, टिकाऊ और वैज्ञानिक थी क्योंकि किसानों ने जो भी खेती के तरीके विकसित किए उनमें खाद्य उत्पादकता के साथ–साथ पर्यावरण सुरक्षा को भी ध्यान में रखा गया; इसी वजह से पिछले तीन दशक पहले तक (हरित क्रांति के आगमन) खेती के द्वारा कोई भी प्रदूषण नहीं होता था क्योंकि खेती के तरीके काफी सुरक्षित और सुगम होते थे। उस समय किसान ज्यादातर देशी खादों तथा वानस्पतिक दवाओं का प्रयोग करता था जोकि प्राकृतिक रूप से उत्पादित वस्तुओं से तैयार किए जाते थे और उनके उपयोग से वातावरण के प्रदूषित होने का खतरा नहीं के बराबर था, परंतु आज जो भी खेती की जा रही है वह प्राकृतिक न होकर ज्यादातर संश्लेषित तथा कृतिम उर्वरकों और दवाओं पर निर्भर है और चूंकि ये प्राकृतिक

नहीं होते, अतः इनके द्वारा पर्यावरण बुरी तरह प्रदूषित हो रहा है जिससे खेती के टिकाऊ रहने की संभावना कम होती जा रही है।

आजकल कृषि वैज्ञानिकों द्वारा जो भी अनुसंधान कृषि संस्थानों में किए जा रहे हैं उनका ज्यादा से ज्यादा भाग किताबों तथा फाइलों में ही रह जाता है और बहुत ही कम हिस्सा किसानों तक पहुंच पाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि कृषि वैज्ञानिकों द्वारा जो भी शोध किया जाता है वह अक्सर किसानों की परिस्थितियों के अनुकूल नहीं होता जिससे उनकी खोजों को किसानों द्वारा अपनाना मुश्किल होता है। यही कारण है कि अनुसंधान कर्ताओं द्वार की गई खोजों का उपयोग किसानों द्वारा नाममात्र में उपयोग किया जाता है। ऐसे बहुत से अन्य कारण हैं जिनसे कृषि अनुसंधान संस्थानों तथा प्रयोगशालाओं द्वारा की गई खोज किसानों के लिए ज्यादा प्रभावशाली नहीं हो पाई। ज्यादातर मामलों में विकसित तकनीकों की उपलब्धता किसानों को आसानी से नहीं हो पाती है जिसकी वजह से वह उनको अपनाने में असमर्थ हैं। नई–नई फसलों की प्रजातियों के विकास का किसानों पर सबसे ज्यादा प्रभाव पड़ा है जिसकी प्राप्ति के लिए किसान ज्यादा मूल्य देने के लिए भी तैयार हैं परंतु उनकी उपलब्धता न होने के कारण सभी किसान उनका प्रयोग नही कर सकते हैं। अक्सर यह देखा गया है कि अच्छी प्रजातियों और दवाओं के स्थान पर स्थानीय दुकानदार नकली प्रजातियों और दवाओं को बेच देते हैं जिससे पैसा खर्च करने के वावजूद किसानों को वांछित लाभ नहीं मिल पाता है। इन सभी परेशानियों से तंग आकर किसान अक्सर अपनी सुविधानुसार अपनी खेती करने के पारंपरिक उपाय को अपनाने के लिए मजबूर हो जाते हैं।

किसान चाहे किसी भी देश का हो वह बहुत ही सरल, मेहनती, समझदार, परिश्रमी, भोला और सक्षम होता है। अगर कोई भी तकनीकी वास्तव में अच्छी है तो वह उसे अपनाने में देर नहीं करता, बशर्ते उसे पैसे की कमी न हो, क्योंकि ज्यादातर किसानों के पास पैसे की समय पर कमी रहती है इसी कारण सबसे मेहनती और सक्षम होने के बावजूद वह सबसे ज्यादा गरीब और मजबूर हैं। आज हालत यह है कि पूरी दुनियां का पेट भरने वाला कर्मयोगी किसान स्वयं में भूखा, लाचार और उपेक्षित है विशेषकर उन देशों में जहां की ज्यादातर आबादी कृषि पर निर्भर है।

हमारा भारतवर्ष एक कृषि प्रधान देश है जहां पर किसानों द्वारा अपनी मर्जी से खेती की जाती है। प्रत्येक गांव में किसान अपनी–अपनी खेती अलग–अलग करते हैं और जरूरत पड़ने पर एकजुट होकर समन्वित रूप से भी करते हैं विशेषकर जब कोई कार्य अकेले संभव न हो सके जैसे धान की रोपाई, गन्ने की बुआई, कटाई तथा पेराई इत्यादि। इस तरह वे अपने काम को आसान बना देते हैं। देख जाय तो हर गांव एक कृषि अनुसंधान केंद्र होता है क्योंकि प्रत्येक गांव में एक साथ एक ही मौसम में किसानों द्वारा विभिन्न तरह की फसलें तथा उनकी विभिन्न प्रजातियां, भिन्न समय तथा तरीके से बुआई की जाती है। विभिन्न तरह तथा समयों पर उर्वरकों का प्रयोग, सिचाई के विभिन्न समय तथा तरीकों, विभिन्न तरह की कीटनाशक दवाओं का प्रयोग विभिन्न तरह की जमीन में विभिन्न फसलों की खेती इत्यादि कृषि क्रियाओं का फसलों की उत्पादकता और उनकी गुणवत्ता पर पड़ने वाले प्रभावों का एक साथ एक ही मौसम में अध्ययन किया जाता है। इस तरह के विभिन्न क्रिया–कलापों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि किसानों द्वारा परस्पर वार्तालाप के जरिए इनका प्रसारण बहुत ही तेजी से तथा सुगम हो जाता है जिससे इन कृषि–क्रियाओं द्वारा होने वाले लाभ तथा हानि का तुरंत असर किसानों पर पड़ता है। इस तरह विभिन्न किसानों द्वारा विभिन्न तरीकों से होने वाले लाभ से सारा किसान समुदाय परिलक्षित हो जाता है और अगले मौसम में उस लाभकारी तरीकों को अपनाकर लाभान्वित होता रहता है। इस तरह फसलों की उत्पादकता बढ़ाने में किसानों द्वारा अपनाए गए तरीके काफी लाभकारी सिद्ध होते हैं। एक तरह से देखा जाए तो एक गांव में ढेर सारी कृषि क्रियाओं को एक साथ अपनाया जाता है जबकि कृषि अनुसंधान केंद्रों पर तैयार कृषि तकनीकों का परिणाम किसानों तक पहुंचाने में काफी समय लगता है। गांवों की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि जो भी किसान जब किसी अच्छी तकनीकी का अच्छा परिणाम पाता है तो उससे गांव के अन्य किसान तुरंत अपनाकर लाभान्वित हो जाते हैं क्योंकि जब भी कोई अच्छी प्रजाति या तकनीकी अपनाता है तो उसके अच्छे परिणामों को अन्य किसान अपनी आंखों द्वारा देखकर तुरंत प्रभावित हो जाते हैं तथा अगले वर्ष उसे अपनाकर लाभ कमाते हैं। दूसरी बड़ी विशेषता इन तकनीकों की यह होती है कि किसान जो भी तरीके अपनाता है वह उसकी सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार ही होते हैं जिससे इन तरीकों को उसे अपनाने में कोई भी दिक्कत या परेशानी नहीं आती है तथा इस तरह किसानों द्वारा विकसित तकनीकी काफी उपयोगी और सफल सिद्ध होती है। किसानों ने अपनी सुविधा और परिस्थिति के अनुसार तमाम तरह की तकनीकों का विकास किया है जो काफी लाभदायक पाई गई हैं। किसान जो भी नई तकनीकी का विकास करता है

आजकल कृषि वैज्ञानिकों द्वारा जो भी अनुसंधान कृषि संस्थानों में किए जा रहे हैं उनका ज्यादा से ज्यादा भाग किताबों तथा फाइलों में ही रह जाता है और बहुत ही कम हिस्सा किसानों तक पहुंच पाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि कृषि वैज्ञानिकों द्वारा जो भी शोध किया जाता है वह अक्सर किसानों की परिस्थितियों के अनुकूल नहीं होता जिससे उनकी खोजों को किसानों द्वारा अपनाना मुश्किल होता है।

उसे विकसित करने में उसे विशेष तरह का प्रयास नहीं करना पड़ता है क्योंकि वह उसे सिर्फ मजबूरी में तथा आवश्यकता समझकर करता है जो बाद में वरदान सिद्ध होती है। यहां पर उन तमाम तरह की तकनीकों का वर्णन किया गया है जिन्हें किसानों ने समय–समय पर विकसित किया तथा उससे काफी लाभान्वित हुए।

सदियों पुरानी कृषि तकनीकों जैसे फसल चक्र, दलहनी फसलों का फसल चक्र में प्रयोग, हरी और देशी खादों का प्रयोग, मिश्रित, अंत रेले, ट्रैप, कैच, पट्टी बहुमंजिला इत्यादि तरह की खेती को किसानों ने अपने लगातार अनुभवों तथा घर की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा भूमि की उर्वरता को बनाए रखने के लिए विकसित किया जो आज भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने सैकड़ों वर्ष पूर्व थे, क्योंकि ये तकनीक कई वर्ष के अनुभवों के फलस्वरूप विकसित की गई थीं और आज की अपेक्षा ज्यादा सुरक्षित वैज्ञानिक और टिकाऊ थी, इसलिए अब पुनः पुराने खेती के तरीकों को अपनाने के लिए प्रेरित किया जा रहा है। इन पुराने तरीकों से पर्यावरण को कोई खतरा नहीं था क्योंकि ये सभी प्राकृतिक एवं जैविक श्रोतों पर आधारित थे। खेती की ऐसी तमाम बेहतरीन तकनीकों का हमारे किसानों ने विकास किया जिनका शायद उनको वैज्ञानिक आधार पता न हो परंतु पारंपरिक खेती सभी तकनीकों का वैज्ञानिक आधार है।

पारंपरिक खेती में किसान हमेशा देशी तथा हरी खादों का प्रयोग करता था क्योंकि उसको मालूम था कि ऐसा करने से खेत की उर्वरा शक्ति हमेशा बनी रहती है तथा इसके साथ इनको तैयार करने के लिए किसी तरह की बाहरी सामग्री तथा उर्जा की आवश्यकता भी नही पड़ती है, सिर्फ घर तथा खेत पर बचे कचड़े तथा अवशेषों से तैयार किया जाता है और इसके प्रयोग से मृदा की उर्वरा शक्ति बरकरार रहती है। हरी खाद का भी प्रयोग किसान सदियों से कर रहा है और ऐसा करने के लिए उसने ऐसे पौधों का चुनाव किया जो कम समय में ज्यादा बढ़ जाते हैं तथा उनको मिट्टी में जोतकर मिलाने से मिट्टी की उर्वरता में वृद्धि हो जाती है। पता नहीं किसानों को पता था या नहीं कि हरी खाद के लिए उगाई जाने वाली पौधों की जड़ों में वायु के नाइट्रोजन के स्थिरीकरण की क्षमता होती है, परंतु उन्होंने ऐसा सिर्फ अपने अनुभवों के द्वारा ही किया। अतः इस हरी खाद से मिट्टी की उर्वरता बढ़ाने का प्राकृतिक और सरल तरीका जो काफी टिकाऊ और वैज्ञानिक है, सिर्फ किसानों द्वारा विकसित किया गया है जो आज भी उतना ही महत्वपूर्ण है।

चने की पैदावार बढ़ाने के लिए किसान उसकी वानस्पतिक अवस्था में ही ऊपर की बढ़ती हुई कोपलों की छटाई कर देते हैं जिससे उनकी शाखाओं की संख्या में वृद्धि हो जाती है तथा ऊपर के कटे कोपलों को हरी सब्जी के रूप में उपयोग कर लिया जाता है। इस तरह एक कार्य से दो लाभ हो जाते हैं। शाखाएं ज्यादा होने से प्रति पौधा फलियों की संख्या में वृद्धि हो जाती है और इस तरह पैदावार बढ़ जाती है। इसी तरह जब अरहर की फसल काफी विरल हो जाती है तो अरहर के पेड़ को ऊपर से छांट देने से उनकी शाखाओं में वृद्धि होने से खेत भर जाता है और उत्पादकता बढ़ जाती है।

किसानों ने सदियों से फसलों के बीजों तथा अनाज को सुरक्षित रखने के लिए तमाम तरह के देशी उपायों जैसे नीम, बेल, प्याज इत्यादि पौधों की पत्तियों को अनाज में रखकर कीड़ों से बचाव के तरीके विकसित किए हैं जो गांवों में आज भी काफी प्रचलित हैं।

मिश्रित खेती

जब सिंचाई की पर्याप्त व्यवस्था नहीं थी तब किसान दो से अधिक प्रकार की फसलों को जैसे चना, जौ, गेहूं या बाजरा, अरहर, मूंगफली, आलू और सरसों इत्यादि को मिलाकर मिश्रित खेती करता था जिससे अच्छी वर्षा होने की स्थिति में सभी फसलों की पैदावार बढ़ने की संभावना रहती थी, परंतु कम वर्षा के कारण पानी के अभाव में अक्सर गेहूं मर जात था लेकिन जौ और चने की फसल हो जाती थी। मिश्रित खेती से प्राकृतिक आपदा की स्थिति में भी किसी न किसी फसल के होने की सुनिश्चितता बढ़ जाती थी और इस तरह अकाल से बचने की संभावना बनी रहती थी। अतः मिश्रित खेती वरानी खेती का मुख्य आधार था। इसी प्रकार अधिक वर्षा वाले जैसे केरल में नारियल तथा सुपारी के बागों में अनन्य प्रकार के मसालों की अंतरासण्य काफी प्रचलित और बहुउपयोगी सिद्ध हुई है। इस तरह की बहुमंजिला खेती का विकास भी किसानों ने ही किया था जो आज बहुत प्रचलित है।

प्याज की फसल में बड़ी गांठ बनने के लिए फसल के अंतिम समय में उपर की हरी पत्तियों को पैर या पाटे से रौंद दिया जाता है जिससे पौंधों द्वारा बनाया गया भोजन पत्तियों द्वारा उपयोग न होकर नीचे की तरफ गांठों में चला जाए और उनकी अधिक वृद्धि हो सके जिससे उनका आकार बढ़ जाए और पैदावार बढ़ सके। यह तकनीकी भी हमारे किसानों ने ही विकसित की है।

गन्ने की बुआई के बाद जब उनमें कल्ले निकलने लगते हैं उन कल्लों को दोपहर में पाटे चलाकर हल्का रौंद दिया जाता है जिससे कल्लों की संख्या में वृद्धि हो सके और प्रति इकाई भूमि पर गन्ने के पौधों की पर्याप्त संख्या हो सके। कल्लों को दोपहर में इसलिए रौंदते हैं क्योंकि उस समय उनकी जड़ से टूटने का डर कम रहता है, परंतु वे कल्लों की संख्या बढ़ाने में सहायक होते हैं। इस तरह इन पुरानी तकनीकों के पीछे काफी वैज्ञानिक राज छिपा है।

मजदूरों की कमी के कारण किसान मेड़ पर आलू बोने के बजाय अब हल के पीछे कूड़ में बोने लगे हैं जिससे कम लागत में आलू की अच्छी पैदावार मिल जाती है। इसी प्रकार आलू को फावड़े या खुरपी से खुदाई के बजाय अब देशी हल से सीधे जोतकर खोद लेते हैं तथा चुनकर इकट्ठा कर लेते हैं। इस विधि से कम समय तथा लागत में

कार्य पूरा हो जाता है। ऐसा किसान सिर्फ मजदूरों की समस्या तथा ज्यादा मजदूरी से बचने के लिए करता है जिससे उसकी आय में इजाफा हो जाए।

पहले मूंगफली की खुदाई खुरपी तथा फावड़े से होती थी जिसके कारण ज्यादा समय तथा पैसा लगता था। इस परेशानी को दूर करने के लिए किसानों ने एक सरल तरीका निकाला जिसमें खुदाई के दिन सुबह ही फसल की अच्छी तरह सिचाई कर देते हैं तथा दो तीन घंटे के लिए छोड़ देते हैं जिससे जमीन अच्छी तरह नम हो जाए, फिर खड़े पानी में मूंगफली के पेड़ों को नीचे से पकड़कर धीरे से उखाड़ लेते हैं जिससे समस्त मूंगफली सहित पेड़ निकल आता है और उसी समय फलियों को पानी में घोलकर उपर की तरफ धूप लगने के लिए पेड़ को छोड़ देते हैं। इस तरीके से कम समय में ही पौधों को उखाड़ लिया जाता है और बाद में पानी सुखाने के दो–तीन दिन बाद पौधों को खेत से इकट्ठा कर लिया जाता है। इस तरह उसी पानी से खेत की जुताई करके गेहूं की बुआई कर देते हैं यानी एक पंत दो काज। इसमें धन तथा समय दोनों की बचत होती है और गेहूं की बुआई में भी देर नहीं होती वर्ना खुरपी या फावड़े से खुदाई करने पर काफी समय लग जाता था जिससे गेहूं की बुआई में देर हो जाती थी और एक पानी भी ज्यादा लगता था।

इसी तरह नदी के किनारे बालू में गर्मी के दिनों में सब्जियों की खेती करने का तरीका भी किसानों ने ही विकसित किया है। नदी के किनारे गर्मियों में तमाम बेकार पड़ी रेतीली जमीन में ककड़ी जाति की फसलों जैसे खरबूज, तरबूज, ककड़ी, लौकी, करेला इत्यादि की सफल खेती नदी के किनारे बसने वाले किसान काफी समय से कर रहे हैं। इस तरह की खेती जिसकी तकनीकी नदी के तट पर बसने वाले किसानों या मछुआरों ने खुद विकसित की तथा गर्मी के दिनों में जब उस बेकार पड़ी रेतीली भूमि में जहां अन्य फसलें नहीं उगाई जा सकतीं, वहां पर ककड़ी जाति की तमाम फसलों की सफल खेती की जाती है। किसानों ने नदी के तट की जमीन को जिसमें नमी की मात्रा नदी में जल स्तर के अनुसर घटती जाती है, ऐसी फसलों का चुनाव किया जिनकी जड़ें रेतीली भूमि में नमी घटने के साथ–साथ नीचे की तरफ पानी की खोज में बढ़ती चली जाती है और इस तरह पौधे भीषण गर्मी के दिनों में भी जमीन की गहराई से पानी शोषण करते रहते हैं और उनको पानी की कमी नहीं होती है। तथा उनकी वृद्धि और उत्पादकता काफी अच्छी होती है। इस प्रकार की खेती में जाड़े के दिनों में ही जब रेतीली जमीन में नमी उपर रहती है, जमीन में एक से दो मीटर गहरे गड्ढे आगर की सहायता से खोद लिए जाते हैं तथा समस्त मिट्टी को पुनः थोड़ी गोवर की खाद मिलाकर भर दिया जाता है। भरने के बाद गड्ढे में बीज को बो दिया जाता है। इस तरह बीजों से निकली जड़ें तेजी से पानी की खोज में नीचे की तरफ बढ़ती जाती हैं जिससे पौधों को बाद में कभी पानी की कमी नहीं पड़ती और जैसे–जैसे नदी में जल का स्तर गर्मी आने के साथ घटता जाता है पौधों की जड़ें उसी तरह नीचे बढ़ती जाती हैं और पौधे अच्छी तरह विकसित होते हैं। इसका सबसे बड़ा उदाहरण है इलाहाबाद के संगम पर इस तरह की सफल खेती, जहां हजारों ट्रक तरबूज, खरबूज, लौकी, तुरई, ककड़ी एवं करेला आदि का हर वर्ष उत्पादन होता है। इसमें खेती की लागत बहुत कम आती है तथा गर्मी के कारण रोगों तथा कीड़ों का कोई प्रकोप नहीं होता है।

पिछले कुछ वर्षों से पूर्वी उत्तर प्रदेश के किसान मजदूर तथा समय के अभाव में गेहूं की बुआई छिटकवां विधि से कर रहे हैं और उनको इसका बहुत अच्छा परिणाम मिल रहा है। गेहूं की बौनी प्रजातियों को जिनको कम गहराई में बोने की सिफारिश की जाती है, को छिटकवां विधि से बोने पर बीजों की गहराई कम होने से कल्ले की संख्या में वृद्धि हो जाती है फलस्वरूप उपज ज्यादा मिलती है। इस तरीके से बुआई करने पर सिर्फ हवा में फसलों के लेटने की सम्भावना बढ़ जाती है, इसके बावजूद यह तकनीकी काफी प्रचलित, सरल और लाभप्रिय सिद्ध हो रही है। हालांकि इस तरीके को किसानों ने मजबूरी में अपनाया था परंतु यह तरीका काफी सफल और कारगर निकला जिसमें किसानों को समय की बचत के साथ–साथ खर्च भी कम आता है।

किसानों ने सदियों से फसलों के बीजों तथा अनाज को सुरक्षित रखने के लिए तमाम तरह के देशी उपायों जैसे नीम, बेल, प्याज इत्यादि पौधों की पत्तियों को अनाज में रखकर कीड़ों से बचाव के तरीके विकसित किए हैं जो गांवों में आज भी काफी प्रचलित हैं। मक्के की बाली को पकने के बाद छिलके सहित तथा सब्जियों के बीजों को उनके फल सहित सुखाकर रखने का तरीका काफी पुराना और प्रचलित है। ऐसा करने से बीज में नमी नहीं जाती और इस तरह कीड़ों का प्रकोप नहीं के बराबर होता है। आज भी अंडमान जैसे अधिक अवधि तक वर्षा वाले क्षेत्रों में किसान बीजों को अल्युमिनियम के वर्तन में राख के साथ मिलाकर रखते हैं और वर्तन को ऊपर से ढक देते हैं जिससे बीज नमी से बचा रहता है और खराब नहीं होता। गोदाम में बीज रखने के पहले नीम की पत्ती को जलाकर धुआं करने का भी तरीका काफी पुराना है, ऐसा करने से नीम की पत्ती के धुंए से कीड़े–मकोड़े मर जाते हैं जिससे उनका प्रकोप नहीं होता है।

बिहार में आज से करीब तीस वर्ष पहले कुछ लोगों ने लोहे की पाइप की जगह बांस का प्रयोग करके जमीन से पानी निकालने में सफलता पाई थी जिसकी लागत काफी कम थी। इसी प्रकार देश के किसी न किसी भाग से किसानों द्वारा नई कृषि तकनीकों का विकास होता रहा है। गुजरात के किसानों ने जीप के चेसिस में कल्टीवेटर लगाकर उसको ट्रैक्टर के रूप में प्रयोग किया। कहीं–कहीं किसानों ने बायोगैस तथा गन्ने की खोइयों से इंजन भी चलाया है। इस प्रकार न जाने कितने प्रकार की तकनीकों का विकास किसानों ने किया होगा। गांव में विकसित तकनीकी की सबसे अच्छाई यह होती है कि इनके प्रचार और प्रसार में बहुत कम समय लगता है। ❑

पर्यावरण विज्ञान अनुभाग,
भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान,
पूसा, नई दिल्ली

कहानी

एक संभावना का अंत

डा. रामेश्वर द्विवेदी

"ओय ऽऽ गरम सिंघाड़ा...... आ ऽऽ समोसे खाइए..... ए झाल मूढ़ी..... मैदावाला केक...... दानेदार मूंगफली, काबलीचना बोलिएगा, ये कड़ाक पापड़ .... ठंडा नारियल तरावट वाला ...... सैंडविच कहिएगा ....।" भागती ट्रेन जैसे ही रुकी, कई आवाजें आपस में टकराने लगीं। इन आवाजों को लांघती दो–तीन लड़कियों की कोरस आवाजें भी उभर आईं – आवाज में झंकार थी और उसे मीठी कहा जा सकता था। ये लड़कियां अभी–अभी ट्रेन में चढ़ी थीं – लंबी झब्बूदार चोटियां, सलवार–कमीज, पर ओढ़े दुपट्टे को कान के पीछे से लपेट कर सर ढक रखा था। वे निर्द्वंद्व भाव से गा रही थीं – जैसे वीरान अकेले में गा रही हों। परंपरा से अलग इनका अपना राग, मौलिक लय थी – "मुझे इस सफर में अहमद कोई राहेबर न रखे कि फरेबे–खुर्दगी में मेरा नाम आखिरी है"......

बांग्लादेशी लड़कियों का एक पूरा जत्था काठगोदाम–हावड़ा ट्रेन में फैल रहा था। जसीडीह से ट्रेन खुली तो आसपास की अर्द्ध–पहाड़ी धरती तथा खैरा–सीसम के नन्हे पेड़ों से बना जंगल, तेजी से पीछे की तरफ भागने लगा। दिन के दस बजे थे और स्वाभाविक तौर पर ट्रेन मात्र छह घंटे लेट थी। मधुपुर में ट्रेन रुकी तो कई सारी आवाजें आपस में टकराती हुई उभरने लगीं। उतरने वाले लोग धक्का–मुक्की करते गेट की ओर बढ़े। चढ़ने वाले लोग भी जोर–आजमाइश कर रहे थे। इन दोनों को चढ़ने–उतरने में व्यवधान पैदा करती, सब्जी बेचने वाली कुछ सब्जीवालियां बीच राह में लगभग निश्चिंत खड़ी थीं। बड़ी–बड़ी बंधी टोकरियों से बीच की जगह भरी थी। भीड़ की आपा–धापी अभी पूरी तरह खत्म भी न हुई थी कि बीच

में रखे अपने बस्ते पर बैठकर एक सब्जी वाली ने अपने झोले से चूड़ा–मूढ़ी निकाला। वह मुट्ठियों में भरकर चूड़ा–मूढ़ी एक किशोर को देती रही जिसे संभालता हुआ वह लड़का अंगोछा लेकर उठ खड़ा हुआ। लड़का उस औरत से भद्दे मजाक करता हुआ चूड़ा फांक रहा था। औरत को भी उसके मजाक से कोई खास आपत्ति न थी। व्यापार में उनके संबंध सहज लग रहे थे। कुछ जिंदगियों में कुछ भी अनैतिक या आपत्तिजनक नहीं होता। इन्हें न चढ़ते–उतरते लोगों की असुविधा का ख्याल था न अपने आराम की चिंता। वे जैसी थीं, ठीक थीं। बिक रहे अनेक सामानों में से किसी भी सामान के लिए उनमें ललक न थी। वे जहां से चाहतीं, मुट्ठीभर उठा ले रही थीं। उनका खाना उनके साथ था और वे इतने पिछड़े थे कि आपस में मिल–बांट कर खाने का हुनर अभी खत्म नहीं हुआ था। एक बूट–पालिश वाला चढ़ा, जिसपर उनने खास ध्यान नहीं दिया, क्योंकि उनके बिवाई फटे पांव नंगे थे, और अभी उन्हें जूते में पालिस की चिंता नहीं करनी थी। गाने वाली एक लड़की ने जब उनमें से एक के सामने अपनी हथेली फैलाई, उसने दूसरी को पुकार कर कहा – "इ छोड़ी पाई मंगहलौ गे, एक टा गीते सिखाए दीहीं न।" लड़की परे हट गई। औरतें चुपचाप खाने लगीं। वे चुप थीं और उन्हें किसी से कुछ भी नहीं कहना था। वे कहती थीं तो कोई सुनने को तैयार नहीं बैठा था, याकि कहती–कहती अब थक–सी गई थीं। वे शेष संसार की भांति दुनिया से तटस्थ और अपने में लीन होना सीख गई थीं। वे कहीं भी कुछ कर सकती थीं। उन्हें रेल के वर्दीधारी सिपाहियों के डंडे और बंदूक का भी कोई भय नहीं था। उल्टा टोकरा उनका आसमान था, फैली चट्टी उनकी जमीन।

"तीन दिन बाद खुल रहा है, पांच लाख का टिकट दो रुपये में" – लाटरी बेचने वाला एक अधेड़ आदमी उसके सामने आकर रुका, जिसकी बढ़ाई हुई पटरी उसने परे ठेल दी – "मुआ! तू ही लखपति क्यों नहीं बन जाता, बरसों से रिरियाता फिर रहा है। अपना लाख तो साथ चलता है" – उसने मुंहबंधी टोकरियों की ओर इशारा किया। लाटरी वाले की लकड़ी की इस पटरी पर कई तरह के टिकट टंगे थे। नीचे गिरी पटरी उठाकर उसने औरत को गुस्से से देखा।

"आ गे! इ त आंख दिखाबहलौ।" "फोड़बावे के मन हलै का?" लाटरी वाला आगे बढ़ गया।

उनकी सारी पूंजी उनके पास थी, दो हाथ और मर्दों को मात देने वाली हिम्मत। उन्हें कुछ भी खोना नहीं था। सहकर्मी से सिपाही और टीसी से टीटीइ और अन्य अधिकारियों तक, सबके विरुद्ध अपने को कसूरवार बना कर भी उन्होंने सबूत जोड़े थे। जिंदगी पूरी तरह निर्द्वंद्व और पश्चाताप मुक्त बन गई थी।

खजूर के पत्तों का मोटा झाड़ू लिए एक बारह वर्ष का लड़का पिछले डिब्बे से निकल कर लाटरी वाले के सामने खड़ा हो गया।

उनकी सारी पूंजी उनके पास थी, दो हाथ और मर्दों को मात देने वाली हिम्मत। उन्हें कुछ भी खोना नहीं था। जिंदगी पूरी तरह निर्द्वंद्व और पश्चाताप मुक्त बन गई थी।

"तेरे पीछे तीन दिन से इ टिकट लिए फिरत हैं लगा, नंबर मिलाओ न, जुम्मा के रोज से कहहैं तोका...... अब फिर न खरीदेंगे तोरा टिकट, सब हमीं को ठगऽ हैं।" उसने अपना टिकट बेचने वाले की ओर बढ़ा रखा था। झाड़ू उसने बगल में दबा ली। "एक टिकट लेगा त बेचे के बाद आज शाम को पक्का मिला देंगे।" लाटरी वाले ने कहा। "न, पहले मिलाओ फिर नया खरीदेंगे।" लड़के ने जिद पकड़ ली। "अभी आठ डिब्बा बाकी है, टिकट बेचने दे। एक बोहनी कर न! तेरा हाथ बहुत अच्छा है" – उसने फुसलाया। "मगर तेरा हाथ जो जरा भी अच्छा नहीं। अल्लाह कभी मेहरबान नहीं होता, हट! हमका भी अभी दस डिब्बा बुहारे ला बाकी है, नंबर मिला तो टिकट लेंगे। आने दे पैसा" – वह आगे बढ़ गया। इस दफे ट्रेन रुकी तो एक चाय वाला मिट्टी का कुल्हड़ लिए चढ़ा – "ए खराब चाय पीजिए, लीजिए भइया जी बदनाम चाय" – प्रचार के इस नए शिल्प से प्रभावित होकर कुछ लोग केतली वाले की ओर मुड़े। वे अभी तक प्रांतीय राजनीति पर चर्चा कर रहे थे। – "जगन्नाथ मिश्र को कहोगे डाक्टर साहेब, बिंदेसरी दुबे को दुबे जी, आ हमरा कहोगे ललुआ।, हमरो कहो लालू जी त काम हो जाइ चालू जी........।" लोग ठहाके लगा रहे थे। सबके सब चाय वाले की ओर मुखातिब हुए और देखते–देखते कुल्हड़ों से भरा उसका ट्रे साफ हो गया। दुनिया की तरह यह कंपार्टमेंट भी संक्रामक रोगियों से भरा था। कम लोग अपनी तरह के थे, अधिक देखा–देखी किसी की तरह बन जाने की कोशिश में लगे थे।

काले चाय वाले की चाय का कुल्हड़ झाड़ू वाले लड़के के हाथ में भी था। चाय वाले के समक्ष वह गंदा होने के बाद भी चमक रहा था। उसकी कीच लगी आंखों में बची नींद के बावजूद भी एक ताजगी थी। आलस में भी एक उत्साह, जो काले पैंट और सिंदूरी टी–शर्ट के कारण उसके गोरे रंग पर छलक रहा था। वह जबसे वहां आकर खड़ा हुआ था, उगते सूरज की तरह लगातार हंस रहा था। वह अनंत संभावनाओं से भरपूर था। उसका उछाह, तेजी और प्रत्युत्पन्नमतित्व देखकर लगता था, वह कुछ भी हो सकता है–पर्वतारोही, धावक, क्रिकेटर, वैज्ञानिक, दार्शनिक, इक्कीसवीं सदी का नेता, सरहद का सिपाही, गाइड, दलाल, कवि आतंकवादी या जोकर कुछ भी। लड़के के बगल में दबा झाड़ू का मूठ, उसके तिरछा होते ही, सब्जी वाली के पेट में चुभा। उसने पलटकर लड़के की नाक नोचती हुई, चिकोटी काट ली। 'झाड़ू' जमीन पर गिरा वह दोनों हाथ से अपना चेहरा सहलाने लगा। उसके सफेद चेहरे पर लहू की लकीरें खिंच गईं और वह लाल हो गया। एड़ी उठाकर उसने चुहल से सब्जी वाली की ओर अपने हाथ बढ़ाए – "इ टिकुली (बिंदी) कौन दिहिस है तोरा .... खूब चमकत है लगा।" – चिकोटी काटने वाली औरत ने उसके हाथ झटक दिए – "चोप्प! रोज लबर–लबर करहलौ, न सुनहइ गे......का कहहलौ इ तोहरा" – कहती हुई बाथरूम के बाहर लगे आईने में उसने अपना चेहरा देखा और बिंदी हाथ में लेकर दुबारा चिपका ली। उसने जिस औरत को पुकारा

था वह खीरे का बड़ा कौर चबा रही थी – चाहकर भी ठीक से मुस्कुरा न पाई। वह चुप ही रही, मगर आंखें गुड़ेड़ कर लड़के को देखा। लड़का स्वयं शातिर था – "खीरा संग खा जाएगी का?" "कुछ कएलेहले का गे....... काहे चुप हले बतहिया नीयर काहे कयलेहले आज तू?" – उसे चुप देखकर पहली औरत ने कहा। ट्रेन तेज रफ्तार से भाग रही थी।

दूसरी औरत के मुंह का खीरा खत्म हुआ तो वह पहली से मुखातिब हुई – "उतरबे का गे? चितरंजन अयलहलौ" – वह औरत बर्थ पर रखे बोरे उतारने की हड़बड़ी से भर उठी। चमकती बिंदी वाली औरत ने खींचकर अपना बोरा नीचे गिराया तो सामने बैठे युवकों में से एक ने पूछा – "का भरे जा रही है रे अपने बोरे में?" "स्मग्लिंग का माल थोड़े ही न! चना के साग हलै बाबू!" – उसके कान के पास जैसे फुसफुसा कर उसने कहा और मुस्कुरा दी। यही मुस्कुराहट उसका कवच भी थी, रेल पास या टिकट भी। दूसरा बोरा उसने जानबूझ कर तिरछा कर खींचा और वह बगल में खड़े झाड़ू वाले लड़के पर गिरा। वह चीख पड़ा – "उई अम्मा! तोरा सूझहौ न?इ बिंदिया नोच ले जाएंगे, बड़ी चमकाव है तू।" बाएं हाथ की रेजगारी दाहिने हाथ से ढक कर उसे झनझनाते हुए लड़के ने कहा और उतरने को तैयार सब्जी वाली ने फिर उसकी नाक अपनी निर्मम मुट्ठी में भर ली – "अहि से त आवारा घूमहलै तू।" "तोरा दिया तो न खाते। अपना कमा के खाते हैं" – कहता हुआ वह लड़का बोरे–टोकरी उतारने में उसकी मदद करता रहा। नीचे खड़ी सामान पकड़ती हुई औरत उसका परिचय अनसुना करती रही।

चितरंजन से गाड़ी खुली तो डिब्बा खाली–सा हो चुका था। लड़के ने बुहारना शुरू किया। अभी पूरी तरह उसके दूध के दांत टूटे भी नहीं थे और वह कमाना सीख गया था। उसका झाड़ू मानो मुंहजोर घोड़े की तरह चल रहा था। नीचे तरह–तरह के जूते–चप्पल पड़े थे – हवाई चप्पल, प्लास्टिक के जूते, पैबंद लगे सैंडल, चमचम करते आईने सरीखे जूते और मिट्टी सने गंदे जूते। जैसे जूते वैसे पांव ..... काले कुरूप खुरदुरे पांव, मैले गंधाते पांव, दागदार नखबढ़े पांव – गंधाते पांवों के बीच एक जोड़ा सुंदर पांव – शरद का उजला धुला चांद–पांव, रंगे नख और एड़ियों वाले पांव – मेहरून नई जूती के ऊपर सो रहे थे। चांदी की चौड़ी पाजेब और मोर का बिछुआ अंगुलियों में गूंथा था। उसके हाथ थम गए। इतने सुंदर पांव और इतने सुंदर जूते? जरूर आज रात ये सुंदर जूते हर बार की तरह उसके पांव पहन कर दूर–दूर उसे उड़ा ले जाएंगे – मेले के बिजली वाले झूलों, हाथी–घोड़ों, रंगीन महंगी गाड़ियों, सुंदर नावों और जहाजों की यात्रा करते ये जूते उसके पांव लिए सारी रात दौड़ेंगे – रंगीन खूशबूदार धुंओं, नाचते मोरों, गाती कोयलों और चिड़ियों–जानवरों के घरों में। वह देखेगा अजीबोगरीब चिड़ियाघर। नदी, झील–झरना

आसमान, इंद्रधनुष। वह बादलों के पार परियों का देश घूम आएगा। वादियों, तलहटियों और हरे पहाड़ों के शीर्ष पर गिरने के भय से मुक्त उड़ता फिरेगा। बड़े फाटकों वाले स्कूल और दफ्तरों की महंगी कुर्सियों पर उसके पांव पहन कर बैठेंगे ये जूते।

वह उठकर खड़ा हो गया। औरत बुर्के में आश्वस्त सो रही थी। उसने घुटने को हाथ लगाया – "अम्मा जरा नंबर मिला दो।"

"हां क्या है? अम्मा नहीं, दीदी।"

"हां! जरा इ टिकट का नंबर मिला दो।" उसने टिकट और अखबार का एक पन्ना साथ बढ़ा दिया।

औरत बाएं हाथ में टिकट, दाहिने में पन्ना लिए नंबर ढूंढती रही। अचानक बगल में बैठे बूढ़े दाढ़ी वाले आदमी ने औरत के हाथ से अखबार का पन्ना और टिकट दोनों लपक लिए और अपने कोट की जेब से तीन–चार टिकट निकाल कर मिलाने लगा। औरत ने झाड़ू वाले लड़के का टिकट लेने को हाथ बढ़ाया।

उस बुजुर्ग ने उसके हाथ झटक दिए – "आप स्थिर रहो बेगम, हम देख लेते हैं, हमें भी तो देखना है।"

देखते हुए एक औचक उल्लास बूढ़े के चेहरे पर आया। उसकी नजर उत्सुकता भरे बेगम के चेहरे पर गई, जो उसे ही देख रही थी। एक टिकट लेकर बूढ़े ने कोट के ऊपरी जेब में रखा और बाकियों को दुबारा मिलाने लगा।

"इ आपके अब्बा हैं दीदी?" – लड़के ने प्रश्न किया।

सुंदर पांव वाली लड़की उदास हो गई। उसने अपने सुंदर पांव बर्थ पर समेट लिए और साहस बटोर कर अपना हाथ कोट की ऊपरी जेब की तरफ बढ़ाया – जहां बूढ़े का कुरूप पांव कीमती जूता पहनकर उड़ने की छटपटाहट संभाले छिप कर सो गया था। बूढ़े ने लड़की के हाथ फिर झटक दिए – "मुंहजोरी न करो बेगम।"

उसने बाकी बचे तीन टिकट लड़के की तरफ बढ़ाए – "लो संभालो।"

अखबार का टुकड़ा देते बूढ़े आदमी ने फिर कहा – "इसे कुछ खाने को दो बेगम! बेचारा भूखा लगता है। वह लड़के से मुखातिब हुआ – "मेरे साथ चलेगा? हम तुम्हें अपने घर में रख लेंगे।"

लड़का चुपचाप तास के पत्तों–सा टिकटों को फेंटता खड़ा था – "हमारा टिकट दो। वह पीला नहीं हरा था, वह इन सबसे बड़ा था।"

"चुप साला चोर। इतना ही बड़ा खरीद सकता तो ट्रेन बुहारने को पैदा होता, हरामखोर – भागता है या बुलाऊं पुलिस को? साला, जूता चुराता है?"

लड़का फक्क! "यह ले लो!" – लड़की ने खजूर के कुछ टुकड़े उसकी ओर बढ़ाए तो उसने हाथ का टिकट बूढ़े पर फेंक दिया – "हम हराम का नहीं कमा कर खाते हैं दीदी। हराम खाने वालों पर अल्ला की मार पड़ेगी..

वह अनंत संभावनाओं से भरपूर था। उसका उछाह, तेजी और प्रत्युत्पन्नमतित्व देखकर लगता था, वह कुछ भी हो सकता है पर्वतारोही, धावक, क्रिकेटर, वैज्ञानिक, दार्शनिक, इक्कीसवीं सदी का नेता, सरहद का सिपाही, गाइड, दलाल, कवि, आतंकवादी या जोकर कुछ भी।

.... और डबडबाए चेहरे से फिर झाड़ू उठा लिया।

बूढ़े को आश्चर्य हुआ, लड़का बुहारी हुई जमीन फिर बुहार रहा था। बूढ़ा अपने जूते में पांव फंसा कर आंख बंद कर चुका था। लड़के ने खजूर के टुकड़े और फटे टिकटों को समेट कर जमा किया। एक बूढ़ा पांव जमा कूड़ों पर सो रहा था। पांव के नीचे कूड़ा अटक गया। लड़के ने पांव को हिलाया पर पांव जैसे पहाड़ की तरह जमीन के भीतर धंसा न जाने कितनी सदियों की गहरी नींद में कुंभकरण हो गया था। झाड़ू छोड़कर दोनों हाथों से उसने उसके घुटने हिलाए। पांव कूड़ों पर जमा अंगद हो रहा था, जैसे गंदगी पर जमे रहने को अधिकृत हो। वह खड़ा हो गया, फिर से उसे देखा – जवाहर कोट, लंबी लटकती दाढ़ी, चेहरे पर लोमड़ी–सी धूर्तता, कौओं की चालाकी और सोने का नाटक करते कुरूप पांव....... लड़के ने दोनों हाथों से पांव को उठाकर परे करना चाहा। पांव भीतर तक धंसा था। उसे पता नहीं था कि गंदगी पर जमे ऐसे पांवों को सरकार तक नहीं हिला पाती। वह सीधा खड़ा हो गया और कंधा पकड़कर हिलाया – "का मियां? आप लोगन तो मशहूर रहिन हैं सारे मुलुक में, तहजीब की खातिर। आ एक आप हैं कि आपको तो बइठे तक नहीं आवत! हमरी लाटरी का नशा लग गया का?" लौटाइए हमारा टिकट, नहीं तो ऐसी नींद आएगी कि कमायत तक न टूटे" – बगल में हंसी का फव्वारा और लड़के के गाल पर झन्नाटेदार तमाचा एक साथ बजा। वह दूर जा गिरा। झरने–सी हंसी थम गई जैसे – "या अल्ला। मारिए तो मत। मांगता है तो दे दीजिए, क्या करना है?"

इससे पहले कि लड़की उठकर रोते हुए लड़के तक आती, लड़का चीते जैसी फुर्ती से उठा और बूढ़े को रौंदता हुआ उसके ऊपर चढ़ गया। वह कोट की ऊपरी जेब में हाथ घुसा पाता, इसके पहले ही उसपर बूढ़े के बेईमान हाथ और बाद में गंदे पांव दोनों बरसने लगे – वह चीख कर अपनी टिकट मांगने लगा। बूढ़े ने पैंतरा बदला। बाएं हाथ में पर्स और दाहिने हाथ में लड़के को पकड़ कर लगभग चीख कर कहा – "साले, जूता चोरी से पर्स और गहने–घड़ी नोचने से अटैची उठाने तक पहुंच जाते हो, रंगा–बिल्ला हो जाते हो।"

थोड़ी देर बाद लड़का रेलवे पुलिस के कब्जे में कसमसा रहा था। सिपाही की जेब में पड़े नए नोटों में पंख उग आए थे। सुंदर जूता बूढ़े का कुरूप पांव पहने इंद्रधनुष रौंद रहा था। ट्रेन भाग रही थी और लड़कियां कोरस गा रही थीं – "दुनिया वजूद तेरा बड़ा बांकापन लगे, कि फरेबे–खुर्दगी में मेरा नाम आखिरी है।" ❑

के.वि. सीमा सुरक्षा बल
छावला, नई दिल्ली–110071

दो कविताएं

•
मिथिलेश श्रीवास्तव

बच्चे चाहिए

*लोग जो अपने बच्चों को पेटभर खाना
खिला नहीं सकते बच्चे जरूर जनते हैं इस
उम्मीद में कि यहां कोई कितना ही
अभागा क्यों न हो तकदीरें बदलती हैं
तकदीरें यहां कुछ इस तरह बदलती हैं
कि भीख मांगते और गंदी पोशाकों में खेलते बच्चे
जेबकतरे मान लिए जाते हैं
अपाहिजों से उम्मीद की जाती है कि भोजन
पाने के पहले वे कुछ काम करें*

*विकास के पक्ष में दलीलें देने वाले कहते हैं :
बच्चे पैदा न किए जाएं
लेकिन बच्चे चाहिए
योजनाकारों के घरों में पालने झुलाने के लिए
सूरज के रथ में घोड़ों की जगह जुत जाने के लिए*

*बच्चे चाहिए
कैनवस पर मासूमियत और क्रूरताओं के प्रतीकों के लिए
फिल्मों में रोने और कविता में सन्नाटा बुनने के लिए
ढाबों में ग्राहकों की झिड़कियां सुनने
और टूटे हुए बल्लों और निस्तेज गेंदों से गलियों में
क्रिकेट खेलते हुए शतकों के सपने देखने के लिए
ब्लैक-बोर्डों के स्थिर मरे हुए सफेद अक्षरों के लिए*

*लावारिसखानों को बच्चे चाहिए
ताकि खाने के पैकेट मुफ्त बांटे जा सकें।*

आंगन

*सब लोग सपने में नहीं देखते गांव
मेरे सपने में गांव है
गांव में मेरा घर
घर में बड़ा-सा एक आंगन
आंगन के एक कोने में
सिलवट पड़ा है टूटा हुआ
परदादा के समय से
बेधार है वह सिलवट
न मेरे दादा ने
मेरे पिता ने भी नहीं
उस पर दांत दुंगवाए
कोने में पड़ा है काला
बिना दांत के सपाट सिलवट
लोढ़ा कई टुकड़ों में बंटा है
पट्टीदारियों में
वह भी सपाट हो गया है
एक कोने में
नाली बंद है पता नहीं कब से
औरतें वहां मांजती हैं बर्तन
जमे हुए पानी में खेलते हैं उनके बच्चे
किनारे-किनारे उग आए हैं
लहसुन प्याज जौ गेहूं
और पीपल के पौधे
बच्चे उन्हें रौंदते रहते हैं।*

*खटिया है एक कोने में झलरी बनी हुई
डंडे उसके मजबूत हैं।
कोई आता है डंडों पर बैठता है
झलरी में बैठी दादी
टुटही चिलम में भरे तंबाकू
हुक्का गुड़गुड़ाती है तो
झूलने लगती है झलरी में।*

*मेरी मां लीप रही है आंगन
और मैं बार-बार
उस लीपे हुए आंगन में दौड़ जाता हूं
मेरे तलवे के तमाम निशान बने हैं
आंगन को भद्दा बनाते।
दादी चिल्लाती है
गिर जाएगा मना करो उसे कोई!
और मां भुनभुनाती
लीपती जाती है
मेरे तलवे के निशान
गोबर और मिट्टी से।* ❑

**80/5, सेक्टर-I, पुष्प विहार
साकेत, नई दिल्ली**

गांवों में पॉलीथिन प्रदूषण

डा. उमेश चंद्र अग्रवाल*

आजकल प्लास्टिक की थैलियों, डिब्बों और बोतलों के बढ़ते प्रयोग ने जहां अभी तक शहरी क्षेत्रों में सीवर लाइनों को अवरुद्ध कर वातावरण को दुर्गंधपूर्ण बनाने, अनेक पशुओं को मौत के मुंह में धकेलने, मानव स्वास्थ्य पर गंभीर बीमारियों के रूप में घातक प्रभाव छोड़ने का काम किया है, वहीं अब हमारे गांव भी तेजी से इसकी चपेट में आने लगे हैं। गांवों में यदि इसी प्रकार इसका प्रयोग बढ़ता रहा तो वह दिन दूर नहीं, जब गांवों में पॉलीथिन के कहर से हमारी बहुत सारी कृषि योग्य भूमि अनुपजाऊ भूमि में तब्दील होने लगेगी, अनेक पशु मौत के मुंह में समा जाएंगे और गांव के लोग इससे होने वाली अनेक गम्भीर बीमारियों से अपना बचाव करने के उपाय ढूंढेंगे।

पॉलीथिन और प्लास्टिक केवल उपयोग करने या उसके बाद ही प्रदूषण नहीं फैलाते बल्कि इनकी फैक्ट्रियों में काम करने वाले लोग तथा आसपास का वातावरण भी इसके घातक प्रभाव से ग्रस्त हो जाता है। प्लास्टिक फैक्ट्रियों में काम करने वाले मजदूरों को चर्म रोगों, श्वसन तंत्र संबंधी रोगों, यकृत, फेफड़े तथा त्वचाकैंसर जैसे भयानक रोगों से ग्रस्त करने के साथ-साथ यह संपूर्ण पर्यावरण के लिए घातक सिद्ध हो रहा है। प्लास्टिक बनाने और नष्ट करने के लिए जलाने पर भी उससे अनेक विषैले तत्व जैसे-फिनाल, फासजीन, हाइड्रोजन, साइनाइड, हाइड्रोजन फ्लोराइड तथा नाइट्रोजन के तत्व निकलते हैं। ये सभी

मानव के श्वसन तंत्र के लिए अत्यंत हानिकारक हैं। इनसे खांसी, सांस लेने में दिक्कत, आंखों में जलन, चक्कर आना, मांसपेशियां शिथिल होना तथा हृदय गति बढ़ने जैसी बीमारियां पैदा होती हैं और उनका गंभीर दुष्प्रभाव मनुष्य के स्वास्थ्य और पर्यावरण दोनों पर पड़ता है। ऐसे दुष्प्रभावी तत्वों के बावजूद आज के उपभोक्ता युग में रोजमर्रा की जरूरतों में प्लास्टिक इतनी गहरी जड़ें जमा चुका है कि इसके प्रयोग को पूर्णतया रोकना मुश्किल है। कुछ क्षेत्र जैसे बिजली, इलेक्ट्रानिक्स, दूरसंचार, आटोमोबाइल आदि तो ऐसे हैं जहां इसका प्रयोग कोई अन्य विकल्प नहीं होने के कारण अपरिहार्य लगने लगा है।

अपनी कुछ खास खूबियों जैसे – हल्के, सस्ते, टिकाऊ और आकर्षक होने के कारण पिछले कुछ वर्षों में ही प्लास्टिक का प्रयोग इतनी तेजी से बढ़ा है कि आज दैनिक कार्यों में प्रयोग आने वाली छोटी–छोटी चीजों से लेकर बड़ी–बड़ी और कीमती मशीनों के कल–पुर्जे तक प्लास्टिक से बनाए जाने लगे हैं। वैसे तो भारत में प्लास्टिक का प्रयोग अब से लगभग 30–35 वर्ष पूर्व हुआ था लेकिन हाल के कुछ वर्षों में इसके प्रयोग में बहुत बढ़ोतरी हुई है। देश में पिछले एक दशक में प्लास्टिक का उत्पादन लगभग पांच लाख टन प्रतिवर्ष पहुंच गया है। पूरे देश में प्लास्टिक निर्माण से संबंधित कई लाख संयंत्र स्थापित हैं। आज जीवन के हर क्षेत्र में प्लास्टिक का बोलबाला है। हम रोज सुबह उठकर प्लास्टिक से बना हुआ टूथब्रश प्रयोग करते हैं। लोहे की बाल्टियों की जगह प्लास्टिक की बाल्टियों ने ले ली है। लकड़ी के फर्नीचर की जगह अब प्लास्टिक का दिखने में खूबसूरत फर्नीचर बहुतायत से प्रयोग हो रहा है। खाने के लिए प्लास्टिक से निर्मित मेलेमाइन की क्राकरी का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। दवाओं की पैकिंग, सेलाइन की बोतलें, सिरिंज आदि सभी प्लास्टिक की ही प्रयोग हो रही हैं। कारों, मोटरगाड़ियों, विभिन्न मशीनों में अनेक कलपुर्जे आज प्लास्टिक के बने इस्तेमाल हो रहे हैं। राशन, फल, सब्जी, अचार, जूस, दूध, दही, आटा, तेल और घी जैसे रोजमर्रा के प्रयोग की सभी खाद्य सामग्री आज प्लास्टिक की थैलियों में आने लगी है। इसके अंधाधुंध प्रयोग ने मानव स्वास्थ्य को खतरे तथा निष्प्रयोज्य थैलियों आदि को नष्ट करने हेतु अपनाए जा रहे तरीकों ने पर्यावरण प्रदूषण संबंधी अनेक जटिलताएं पैदा की हैं जिनके निराकरण हेतु तुरंत उपाय ढूंढकर प्रभावी कदम उठाने होंगे।

प्लास्टिक, जिससे पॉलीथिन के थैले बनाए जाते हैं, एक जटिल पालीमर है जिसमें फास्फेट, कंपोराइड, सल्फेट, पराबैंगनी तत्व, प्लास्टिसाइजर, स्टैबलाइजर रंग, मोनोमर तथा एडीटी बस आदि का सम्मिश्रण रहता है। प्लास्टिक मुख्य रूप से दो प्रकार के होते हैं। एक थर्मोस्टेटिंग तथा दूसरे थर्मोप्लास्टिक। थर्मोस्टेटिंग प्लास्टिक गर्म होने पर विघटित होता है जबकि थर्मोप्लास्टिक गर्म होने पर विघटित नहीं होता।

वैज्ञानिकों के अनुसार प्लास्टिक को जमीन में दबा देने पर इसके नष्ट होने में लगभग 200 वर्ष तक लग जाते हैं और इसके जला कर नष्ट करने पर इससे अति विध्वंसकारी गैसें निकलती हैं जो मानव स्वास्थ्य के साथ–साथ पेड़–पौधे और पशु–पक्षियों पर भी दूषित प्रभाव छोड़ती हैं।

वैज्ञानिकों के अनुसार प्लास्टिक को जमीन में दबा देने पर इसके नष्ट होने में लगभग 200 वर्ष तक लग जाते हैं और इसके जला कर नष्ट करने पर इससे अति विध्वंसकारी गैसें निकलती हैं जो मानव स्वास्थ्य के साथ–साथ पेड़–पौधे और पशु–पक्षियों पर भी दूषित प्रभाव छोड़ती हैं। प्लास्टिक निर्माण में प्रयुक्त होने वाले अवयवों व उनमें प्रयुक्त होने वाले कार्बनिक और अकार्बनिक रसायनों और विषाक्त रंगों के कारण ये हर प्रकार से हानिकारक होते हैं। प्लास्टिक के इन अवयवों का उनके उपभोक्ताओं के स्वास्थ्य पर भी दुष्प्रभाव पड़ता है। यदि प्लास्टिक निर्माण में सही रसायनों का प्रयोग उचित मात्रा और निर्धारित सीमा में नहीं किया गया तो अधिक तापमान, अम्लीय एवं क्षारीय अवस्था में उसके रासायनिक तत्व बाहर निकलकर उसमें रखी सामग्री में मिलकर उसे विषाक्त बना देते हैं।

प्लास्टिक के प्रयोग से खतरे

प्लास्टिक या पॉलीथिन बैग्स या डिब्बों और बोतलों में विभिन्न खाद्य पदार्थों के पैकिंग और लाने ले जाने के लिए इस्तेमाल करने से इनके प्रदूषित हो जाने से स्वास्थ्य को खतरा होता है, साथ ही प्रयोग के उपरांत इनको फेंक देने या नष्ट करने से भी पर्यावरण, मानव, भूमि, जल स्रोत तथा पशु–पक्षी, पेड़–पौधे, वनस्पति आदि सभी पर इनका हानिकारक प्रभाव होता है। सामान्य तौर पर इसके निम्नांकित दुष्प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं :

- कूड़े–करकट, साग–सब्जी के छिलकों और बेकार खाद्य पदार्थों को पॉलीथिन की थैलियों के साथ फेंके जाने से इन्हें गायों, सूअर, बंदर, कुत्ते आदि पशुओं द्वारा खा लिए जाने पर उनकी जान तक का खतरा रहता है क्योंकि ये उनकी आंतों में फंस जाती हैं और इससे पाचन संबंधी विकास होने के साथ–साथ पशु की मौत तक हो सकती है।
- पॉलीथिन थैलों, प्लास्टिक की बोतल या डिब्बों को नष्ट करने के उद्देश्य से इसे जमीन में दबा देने से अथवा इनके किसी भी तरह खेतों में पहुंचकर मिट्टी में दब जाने से भूमि प्रदूषण होता है। भूमि के पोषक तत्व नष्ट हो जाते हैं। ऐसे स्थान पर कोई पौधा भी नहीं उग पाता है। अंततः ये कृषि योग्य भूमि को बेकार बना देते हैं क्योंकि जमीन में इनके गलने में अनेक वर्ष लग जाते हैं। मिट्टी में इनके दबे होने के स्थान पर कोई भी पेड़–पौधा उग नहीं पाता है और उपजाऊ भूमि धीरे–धीरे बंजर होने लगती है।
- जमीन में प्लास्टिक या पॉलीथिन दबा देने से उसके आसपास का सतही जल भी प्रदूषित हो जाता है क्योंकि इससे जमीन के अंदर जल में विषैले तत्व पहुंच जाते हैं और उसे प्रदूषित कर देते हैं।
- इसे नष्ट करने के लिए इसके (पालिस्ट्री[illegible] प्लास्टिक) जलाने से क्लोरोफ्लोरो कार्ब[illegible]

बाहर आते हैं जो जीवनरक्षक ओजोन परत को नष्ट करते हैं। इससे पराबैंगनी किरणों के पृथ्वी तक पहुंचने के कारण कैंसर जैसी भयानक बीमारियां उत्पन्न हो सकती हैं।

- रंगीन पॉलीथिन में हानिकारक रंगों का प्रयोग किया जाता है। इनमें तरल खाद्य पदार्थों जैसे दूध, दही, घी, पानी, जूस आदि में इनका रंग छूट कर मिल जाने से मानव स्वास्थ्य को गंभीर खतरा उत्पन्न होता है और उन्हें अनेक किस्म की बीमारियां हो सकती हैं।
- सड़कों और कूड़े के ढेरों से एकत्रित की गई पॉलीथिन की थैलियों को प्रोसेसिंग के बाद दोबारा तैयार की गई थैलियों में लाई गई खाद्य सामग्री अधिक प्रदूषित हो जाती है जिससे मानव स्वास्थ्य पर अधिक घातक प्रभाव पड़ता है।
- नदी और तालाबों में पॉलीथिन के थैले में रखकर फेंके गए पदार्थों के कारण पॉलीथिन के पानी के नीचे बैठ जाने पर जल में उगने वाली लिचिन, मॉस आदि वनस्पतियां नष्ट हो जाती हैं तथा वहां पर नई वनस्पतियां भी उग नहीं पातीं जिससे वहां इन वनस्पतियों पर निर्भर करने वाले जीव–जंतु नष्ट हो जाते हैं।
- बहुतायत से प्रयोग की जा रही पॉलीथिन की थैलियां गांवों में नाले–नालियों तथा शहरी क्षेत्रों में सीवर लाइनों में पहुंचकर उनको अवरुद्ध कर देती हैं जिससे आजकल नालों और सीवर जाम की समस्याएं आम रूप से उत्पन्न हो रही हैं और वातावरण प्रदूषण बढ़ रहा है।
- प्लास्टिक के जूते और कपड़े पहनने से भी स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव होता है। इनके प्रयोग से अनेक प्रकार के चर्म रोग हो सकते हैं जिनका उपचार भी बहुत कठिन होता है।

यंत्रण हेतु प्रभावी कदम

प्लास्टिक का नियंत्रित उत्पादन तथा प्रयोग पर्यावरण सुरक्षा का एकमात्र उपाय है। के लिए सरकारी नीतियों के निर्माण के व्यापक जन–सहभागिता भी जरूरी है। प्लास्टिक के उपयोग के खतरे और इसके सुरक्षात्मक प्रयोग के संबंध में जन समान्य को समुचित जानकारी देने के लिए बृहद स्तर पर प्रचार–प्रसार की भी महती आवश्यकता है। इसे जनांदोलन के रूप में चलाने के लिए

पॉलीथिन के दुष्प्रभावों से मुक्ति पाने के दो प्रमुख रास्ते हैं – पहला यह कि इसके उत्पादन और प्रयोग पर प्रतिबंध लगाया जाए। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने भी अपनी रिपोर्ट में इसके दुष्प्रभावों से आगाह करते हुए इसके प्रयोग पर तुरंत प्रतिबंध लगाने को कहा है। हमारे देश में कुछ राज्य सरकारों ने इस दिशा में पहल करते हुए पॉलीथिन के प्रयोग को प्रतिबंधित और नियंत्रित करने का प्रयास किया है। हाल ही में महाराष्ट्र सरकार ने कुछ जिलों में पॉलीथिन से बनी थैलियों के प्रयोग पर पाबंदी लगाकर एक अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार हिमाचल प्रदेश सरकार ने इनके प्रयोग पर पूर्ण प्रतिबंध लगाकर एक सराहनीय कदम उठाया है।

सरकारी प्रचार–प्रसार माध्यमों का भरपूर उपयोग, पंचायतों और स्थानीय संस्थाओं की भागीदारी, स्वैच्छिक और गैर–सरकारी संगठनों का सहयोग तथा विभिन्न स्तरों के शैक्षिक पाठ्यक्रमों में इससे संबंधित जानकारी का समावेश काफी मददगार हो सकता है। समय रहते ही यदि इस ओर ध्यान नहीं दिया गया तो इसे गंभीर परिणाम भुगतने पड़ेंगे।

वास्तव में पॉलीथिन के दुष्प्रभावों से मुक्ति पाने के दो प्रमुख रास्ते हैं – पहला यह कि इसके उत्पादन और प्रयोग पर प्रतिबंध लगाया जाए। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने भी अपनी रिपोर्ट में इसके दुष्प्रभावों से आगाह करते हुए इसके प्रयोग पर तुरंत प्रतिबंध लगाने को कहा है। हमारे देश में कुछ राज्य सरकारों ने इस दिशा में पहल करते हुए पॉलीथिन के प्रयोग को प्रतिबंधित और नियंत्रित करने का प्रयास किया है। हाल ही में महाराष्ट्र सरकार ने कुछ जिलों में पॉलीथिन से बनी थैलियों के प्रयोग पर पाबंदी लगाकर एक अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार हिमाचल प्रदेश सरकार ने इनके प्रयोग पर पूर्ण प्रतिबंध लगाकर एक सराहनीय कदम उठाया है। उत्तर प्रदेश में कुछ धार्मिक और पर्यटक स्थलों पर स्थानीय प्रशासन द्वारा भी इनके प्रयोग को नियंत्रित किया गया है। जैसे हरिद्वार, अयोध्या और नैनीताल में जल क्षेत्रों में प्लास्टिक और पॉलीथिन का कचरा फेंकने पर पाबंदी लगाई गई है। लखनऊ छावनी क्षेत्र में भी स्थानीय प्रशासन द्वारा पॉलीथिन के प्रयोग को प्रतिबंधित किया गया है। अन्य राज्य सरकारों, स्थानीय प्रशासन तथा केंद्र सरकार द्वारा इस समस्या के निराकरण हेतु बिना देर किए प्रभावी कदम उठाने अति आवश्यक हैं। साथ ही साथ इसके प्रयोग पर पाबंदी लगाने और नियमों का कड़ाई से अनुपालन सुनिश्चित कराना भी अधिक आवश्यक है। साथ ही इसके निबटारे के लिए इससे जलाने पर भी पूरी तरह से प्रतिबंध लगाना अपरिहार्य है।

दूसरे कदम के रूप में जैव क्षय (बायो डिग्रेडेड) होने वाले प्लास्टिक को परंपरागत प्लास्टिक का प्रभावकारी विकल्प बनाकर उसके प्रयोग को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। इस प्रकार की प्लास्टिक स्टार्च एवं कम घनत्व वाली पॉली–इथीलिन को मिलाकर बनाने का प्रयोग सफलतापूर्वक पूरा भी कर लिया गया है। इस प्लास्टिक से बनी पॉलीथिन की विशेषता है कि यह मिट्टी में दबा देने से दो माह के अंदर ही पूरी तरह गल जाती है और मजबूती में भी यह कम नहीं है। हालांकि यह कीमत की दृष्टि से कुछ अधिक महंगी है। देश में इस प्रकार की बायो डिग्रेडेड प्लास्टिक के व्यावसायिक उत्पादन को अतिशीघ्र प्रारंभ किए जाने के प्रयास भी किए जा रहे हैं।

इसके प्रयोग से इस दिशा में काफी राहत मिलने की संभावना है।

प्लास्टिक के सुरक्षित प्रयोग के लिए सावधानियां

प्लास्टिक एवं पॉलीथिन के प्रयोग को कानूनी तौर पर पूर्ण रूप से प्रतिबंधित किए जाने अथवा इसके कारगर विकल्प को व्यावहारिक स्वरूप प्राप्त होने में निश्चित रूप से अभी कुछ समय लगेगा। अतः तब तक के लिए इसके प्रयोग में यदि कुछ सावधानियां बरती जा सकें तो इससे होने वाले घातक प्रभावों को कुछ कम अवश्य किया जा सकता है। इसके लिए निम्नांकित सावधानियां बरती जानी चाहिए :

- बाजार से पॉलीथिन की थैलियों में दही, अचार जैसे अम्लीय पदार्थ नहीं लाने चाहिए। इससे ये पदार्थ दूषित हो जाते हैं और इनके उपयोग से विभिन्न प्रकार की बीमारियां उत्पन्न हो सकती हैं।
- दही, अचार आदि पदार्थों को घरों में भी प्लास्टिक के जारों में नहीं रखना चाहिए क्योंकि इनके विषैले तत्व इन खाद्य पदार्थों में मिलकर हमारे स्वास्थ्य को हानि पहुंचाते हैं।
- बाजार से सामान लाने के लिए पॉलीथिन की जगह कागज के लिफाफे अथवा जूट या कपड़े के थैले, प्लास्टिक के कप और प्लेटों की जगह मिट्टी या पत्ते के दोने आदि ही प्रयोग में लाने चाहिए। पॉलीथिन का प्रयोग यथा संभव कम से कम किया जाना चाहिए।
- पीने के पानी की बोतलों का प्रयोग केवल पीने के लिए किया जाना चाहिए और इन बोतलों में तेल, सिरका, दूध, घी, जैसे तरल पदार्थ नहीं रखने चाहिए क्योंकि इससे ये खाद्य पदार्थ प्रदूषित हो जाते हैं और कई प्रकार के रोग उत्पन्न कर सकते हैं।
- पानी के लिए प्रयोग की जाने वाली बोतलें विशेष रूप से बच्चों को दी जाने प्लास्टिक की पानी की बोतलें अच्छे किस्म की ही ली जानी चाहिए। सस्ती और घटिया बोतलें स्वास्थ्य के लिए अधिक खतरनाक होती हैं।
- प्लास्टिक/पॉलीथिन के कचरे को एक निर्धारित और सुरक्षित स्थान पर ही फेंका जाना चाहिए जिससे यह दूर तक नहीं फैले। विशेषरूप से इसे ऐसे स्थान पर डाला जाए जहां यह पशुओं की पहुंच से भी बाहर रहे और वे इसे खा नहीं पाएं।
- पॉलीथिन की थैली आदि को कुंओं, तालाबों, नदियों आदि जलक्षेत्रों में नहीं फेंकना चाहिए। इससे इनका पानी प्रदूषित हो जाएगा और इसके प्रयोग से अनेकानेक बीमारियां भी पनपेंगी। इससे पानी में रहने वाली मछलियों तथा अन्य मानवोपयोगी जीव भी बुरी तरह प्रभावित होते हैं।
- प्लास्टिक के जूते भी यथासंभव प्रयोग नहीं करने चाहिए। यदि प्रयोग करने भी पड़ें तो अच्छी क्वालिटी के ही तथा कम समय के लिए ही प्रयोग में लाने चाहिए क्योंकि ये हमें त्वचा संबंधी जटिल रोगों से ग्रसित कर सकते हैं।

> **जैव क्षय (बायो डिग्रेडेड) होने वाले प्लास्टिक को परंपरागत प्लास्टिक का प्रभावकारी विकल्प बनाकर उसके प्रयोग को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। इस प्रकार की प्लास्टिक स्टार्च एवं कम घनत्व वाली पॉली-इथीलिन को मिलाकर बनाने का प्रयोग सफलतापूर्वक पूरा भी कर लिया गया है। इस प्लास्टिक से बनी पॉलीथिन की विशेषता है कि यह मिट्टी में दबा देने से दो माह के अंदर ही पूरी तरह गल जाती है और मजबूती में भी यह कम नहीं है। हालांकि यह कीमत की दृष्टि से कुछ अधिक महंगी है। देश में इस प्रकार की बायो डिग्रेडेड प्लास्टिक के व्यावसायिक उत्पादन को अतिशीघ्र प्रारंभ किए जाने के प्रयास भी किए जा रहे हैं।**

- अधिक गहरे रंग की और दिखने में भद्दी पॉलीथिन के प्रयोग से यथासंभव बचने का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि ये पुराने प्लास्टिक से रिसाइकिल करके और हानिकारक रंगों का प्रयोग करके बनाई जाती हैं और हानिकारक होती हैं।
- घरों में प्रयुक्त होने वाली प्लास्टिक की क्राकरी भले ही सुंदर, सस्ती और खूबसूरत लगे लेकिन उसको प्रयोग में नहीं लाना चाहिए क्योंकि इससे हानिकारक तत्व खाद्य पदार्थ के साथ हमारे शरीर में पहुंच जाते हैं और कई बीमारियों को जन्म देते हैं। अन्यत्र भी इसके इस्तेमाल से बचना चाहिए।
- पशुओं के गोबर आदि के साथ खाद के गड्ढों में प्लास्टिक/पॉलीथिन को नहीं डालना चाहिए। इससे यह खेतों में पहुंच जाएगी और खेत की उर्वरा शक्ति को नष्ट कर उसे बंजर बना सकती है।
- प्लास्टिक या पॉलीथिन के थैलों के कचरे को किसी भी दशा में जलाया नहीं जाना चाहिए। इसके जलाने से हानिकारक गैसें निकलती हैं जो मानव श्वसन पर बेहद प्रतिकूल प्रभाव छोड़ती हैं इससे कई प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं।
- कोई भी पदार्थ के पॉलीथिन में लाने पर यदि उसमें पॉलीथिन का थोड़ा भी रंग आ गया है तो उस पदार्थ को कदापि प्रयोग में नहीं लाना चाहिए। इसके प्रयोग से स्वास्थ्य को खतरा उत्पन्न हो सकता है।

पॉलीथिन और प्लास्टिक के प्रयोग में उपर्युक्त सावधानियां बरतने से इसके कुप्रभावों को यद्यपि पूर्णरूपेण समाप्त नहीं किया जा सकता हां, उन्हें कम जरूर किया जा सकता है। इन्हें केवल तात्कालिक उपाय के रूप में ही अपनाया जाना चाहिए। दूरगामी उपायों में सरकार द्वारा इसके निर्माण, संग्रहण और प्रयोग को पूर्णतया प्रतिबंधित कर मानव, पशु, जल, भूमि, वायु अर्थात संपूर्ण पर्यावरण को इसके घातक और विध्वंशकारी कुप्रभावों से बचाना ही श्रेयस्कर होगा। ❑

संयुक्त निदेशक (प्रशिक्ष
राज्य नियोजन संस्थ
उ.प्र. कालाकांकर भ
पुराना हैदरा
लखनऊ-226

ओड़ ग्राम पंचायत ने रचा विकास का नया इतिहास

डा. महेश प्रसाद दुबे

ग्राम पंचायतों को प्रदत्त अधिकारों से विकास का नया इतिहास रचने में मध्य प्रदेश के देवास जिले की सोनकच्छ जनपद पंचायत क्षेत्र में स्थित ग्राम पंचायत ओड़ ने कामयाबी प्राप्त की है। गांव की पेयजल समस्या ने ग्रामीणों को नया कुछ करने के लिए प्रेरित किया। ग्रामीणों की इच्छाशक्ति को मूर्तरूप देने और समस्या को हल करने का अवसर दिया पंचायत राज व्यवस्था ने।

वर्षों से पानी के संकट से जूझते आ रहे गांव ओड़ के लिए प्रशासन द्वारा हर वर्ष पानी के परिवहन की व्यवस्था कर दी जाती है क्योंकि, ओड़ में स्थानीय जलस्रोत के अभाव में गर्मी के मौसम में पानी प्राप्त करने का एकमात्र जरिया परिवहन ही है। इसलिए प्रशासन गर्मी में ओड़ गांव के लिए पानी के परिवहन की व्यवस्था करता था। इस वर्ष ग्रामीणों ने गांव की पेयजल समस्या का हल निकालने की दिशा में कुछ नया करने की सोची। उन्होंने गांव में स्थायी जलस्रोत खोजने की रणनीति बनाई। ग्रामीणों के अतीत के अनुभव की जिस बावड़ी को मिट्टी ने समतल बना दिया है; उसमें से कोई 30–35 वर्ष पूर्व ग्रामीण पानी प्राप्त करते थे। इसी को ध्यान में रखकर ग्रामसभा की बैठक में ग्रामीणों ने बावड़ी की खुदाई करने का निर्णय लिया। इस निर्णय को क्रियांवित करने का उत्तरदायित्व ग्राम पंचायत को सौंपा गया। ग्राम पंचायत के सरपंच ने बावड़ी खुदाई के लिए आवश्यक राशि और तकनीकी मार्गदर्शन के लिए अपने जनपद पंचायत क्षेत्र सोनकच्छ के अध्यक्ष से अनुरोध किया।

जनपद पंचायत अध्यक्ष ने ग्राम पंचायत के सरपंच को समझाया कि इस कार्य के लिए ग्राम पंचायत को जितनी राशि की आवश्यकता है, उससे कहीं अधिक राशि ग्राम पंचायत को विभिन्न योजनाओं के अंतर्गत एक वर्ष में प्राप्त हो जाती है। जरूरत इस बात की है कि ग्राम पंचायत इस कार्य को करने का प्रस्ताव पारित कर उस पर अमल करे। तकनीकी मार्गदर्शन के लिए जनपद पंचायत में इंजीनियर उपलब्ध हैं; जिनकी सहायता ग्राम पंचायत को जब भी आवश्यकता हो, मुहैया कराई जाती है।

जनपद पंचायत अध्यक्ष की सलाह पर ग्राम पंचायत के सरपंच ने पंचायत प्रतिनिधियों से चर्चा कर ओड़ की बावड़ी के जीर्णोद्धार का प्रस्ताव पंचायत में पास कराया। बावड़ी के जीर्णोद्धार के लिए राशि की व्यवस्था करने के लिए सरपंच ने ग्रामसभा में बात रखी। सभी पंचायत प्रतिनिधियों तथा ग्रामीणों ने इस प्रस्ताव पर सहमति व्यक्त की कि इस वर्ष ग्राम पंचायत को विभिन्न मदों में मिलने वाली कुल राशि को बाबड़ी जार्णोद्धार में खर्च किया जाए। ग्रामीणों को पूरी उम्मीद थी कि ऐसा करने से अपनी वर्षो पुरानी और सबसे अहम समस्या का वे हल कर सकेंगे। इसके लिए ग्राम पंचायत ने जवाहर ग्राम समृद्धि योजना, मूलभूत भू–राजस्व तथा वाणिज्य कर में ग्राम पंचायत को प्राप्त राशि से लगभग 76 हजार से अधिक रुपये की व्यवस्था कर कार्य संपन्न किया।

ग्रामसभा की सहमति और पंचायत के निर्णय को कार्यान्वित करने के लिए ग्राम पंचायत ने क्रियान्वयन का उत्तरदायित्व अपने हाथ में लिया। इस कार्य में तकनीकी मार्गदर्शन विकास खंड कार्यालय के उपमंत्री ने दिया। बावड़ी की खुदाई के परिणाम सकारात्मक रहे। बावड़ी को 23 फिट गहरा खोदने पर पर्याप्त पानी मिल गया। बावड़ी की पर्याप्त खुदाई के बाद इसकी सीमेंट, लोहे के सरिया, गिट्टी और रेती से आर.सी.सी. जुड़ाई की गई। इस प्रकार लुप्तप्राय हो चुकी बावड़ी का फिर से पुनरोद्धार कर वर्षों की समस्या का स्थायी हल करने में सफलता प्राप्त की गई। इस वर्ष मार्च 2001 से जून 2001 तक, प्रदेश के अनेक पर्याप्त जलस्रोत वाले गांवों में भी अल्पवृष्टि के चलते जहां पानी का संकट बना रहा है; वहीं ओड़ गांव के ग्रामीण अपने स्थानीय जलस्रोत से जल प्राप्त करने में कामयाब हुए हैं।

ग्राम पंचायत के सरपंच सहित अन्य सदस्यों को पंचायत के इस सफल कार्य की खुशी है, पर इससे अधिक खुशी गांव की जनता को है; जिसको स्थायी जलस्रोत मिल गया है। ओड़ गांव की लीला बाई और सुनीता बाई का कहना है कि बावड़ी से पानी मिलने पर उनकी मुश्किल हल हो गई है। उन्हीं के शब्दों में "ढोर और मनख सभी पावे बावड़ी के पानी को।" 15 हाथ चौड़ी इस बावड़ी का पक्का बंधान बनाकर स्थायी स्थानीय जलस्रोत बना दिया गया है। इस प्रकार, ग्राम पंचायत ओड़ ने पंचायतों को प्रदत्त अधिकारों से गांव की समस्या हल करने में सफलता प्राप्त की है और विकास की प्रक्रिया को नया आयाम दिया है। सरपंच का कथन है कि "पंचायत राज ने उनको अधिकार और अवसर दिया जिससे वह इतना महत्वपूर्ण कार्य कर सके; क्योंकि इस कार्य को पंचायत के व्यक्तियों के निर्णय से पंचायत में उपलब्ध राशि से पंचायत द्वारा गांव के लिए किया गया है।" ❑

जिला पंचायत, देवास (म.प्र.)

अमृतफल आंवला

डा. विजय कुमार उपाध्याय

आंवला एशिया उप–महाद्वीप के शीतोष्ण क्षेत्रों का एक उपयोगी पेड़ है। यह पेड़ों की यूफोरविऐसी प्रजाति का एक सदस्य है। इसका वैज्ञानिक नाम फाइलेन्थस एम्बलिका है। कुछ लोग इसे एम्बलिका आफिशीनियलिस भी बोलते हैं। छोटी–छोटी महीन पत्तियों वाला यह पेड़ हिमालय की तलहटी से लेकर दक्षिणी भारत के पठार तक ही नहीं, बल्कि समस्त एशियाई उप–महाद्वीप में समुद्र तल से एक हजार फुट से लेकर चार हजार फुट तक की ऊंचाई पर अन्य चौड़ी पत्ती वाले पेड़ों के बीच प्राकृतिक तौर पर उगता, पलता और फलता–फूलता है। यह पेड़ छोटे कद का होता है और अपने पूरे आकार को चालीस से साठ वर्ष की उम्र तक पा लेता है।

आंवला सर्दियों में पत्ते छोड़ने वाला पौधा है। इसके तने का छिलका हल्के सलेटी रंग का होता है जिसकी पुरानी तहें निराकार चपटियों की शक्ल में धीरे–धीरे उखड़ती रहती हैं।

आंवले का फल आयुर्वेदिक दवाइयों में काफी मात्रा में उपयोग होता है। इसकी दवाइयां अनिद्रा (आइसोमोनिया), उच्च रक्तचाप, सिरदर्द या चक्कर, मूत्रावरोध या मूत्र विसर्जन के समय दर्द या जलन अथवा डायबिटीज (मधुमेह), ज्ञानेन्द्रियों की कमजोरी, छोटी उम्र में बालों के सफेद होने, गंजेपन, लीवर (यकृत) के रोग/दोष, पेट के रोगों जैसे कि अल्सर, बवासीर इत्यादि, हृदय के रोगों, शरीर के विभिन्न अंगों से रक्त स्राव, श्वास के रोग, दमा, हृदय रोग, तपेदिक, शारीरिक दुर्बलता, बुखार इत्यादि रोगों के इलाज में प्रयोग होता है।

आंवले को कुछ लोग कच्चा भी खाते हैं। इसे टॉनिक के रूप में भी उपयोग में लाया जाता है। आंवले के चूर्ण, अचार और मुरब्बे भी बढ़िया बनते हैं।

भारत में आंवले का उपयोग काफी प्राचीन काल से होता आ रहा है। यहां इसे अमृतफल

की संज्ञा दी गई है। इसकी चर्चा हमारे देश के अधिकांश प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रंथों में की गई है। आयुर्वेद में चर्चित प्रसिद्ध औषधि त्रिफला का एक महत्वपूर्ण घटक आंवला ही है। इसी प्रकार, महर्षि च्यवनप्राश द्वारा अविष्कृत च्यवनप्राश का प्रमुख घटक आंवला है। कहा जाता है कि इसी च्यवनप्राश का सेवन कर च्यवन ऋषि वृद्ध से जवान हो गए।

आधुनिक शोध

आधुनिक चिकित्सा वैज्ञानिक भी आंवले पर गहन शोध में जुटे हुए हैं। इन शोधों से निष्कर्ष निकाला गया है कि आंवला शरीर के मोटापे को कम करता है, कोलस्ट्राल के स्तर को नीचे लाता है, मधुमेह तथा व्रण में लाभ पहुंचाता है तथा विषाणुओं (वायरस) एवं रोगोत्पादक जीवाणुओं के संक्रमण से बचाता है। इसके नियमित सेवन से स्मरण शक्ति में वृद्धि होती है। इसके फल को किसी भी रूप में प्रयोग करने से स्वास्थ्य लाभ होता है।

आंवले के रासायनिक विश्लेषण से पता चलता है कि इसमें कई प्रकार के विटामिन पाए जाते हैं जिनमें सर्वप्रथम है विटामीन सी (ऐसकॉर्बिक एसिड)। इनके अलावा इसमें अनेक प्रकार के माइक्रो न्युट्रिएंट तथा खनिज पाए जाते हैं जिनमें शामिल हैं – कैल्शियम, बोरोन, मैंगनीज, मैंग्नेशियम, तांबा तथा फास्फोरस। कुछ ही समय पूर्व मुंबई स्थित भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र के विकिरण रासायनिक विज्ञान केंद्र में कार्यरत डा. हरिमोहन ने अपने शोधों के आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि आंवला एक उत्तम ऐंटी–ऑक्सिडेंट है, तथा यह उन मुक्त मूलकों (फ्री रेडिकल्स) से सुरक्षा प्रदान करता है जो हमारे शरीर के ऊतकों को नष्ट करते हैं। इस विषय से संबंधित इनका एक शोधपत्र में 'करंट साइंस' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। डा. हरिमोहन के मतानुसार आंवले में हानिकारक मुक्त मूलकों को नष्ट करने की क्षमता इसमें मौजूद एस्कॉर्बिक एसिड (विटामीन सी) तथा कई प्रकार के पोलीफेनॉल की उपस्थिति के कारण विकसित होती है। प्रमुख पोलीफेनॉल में शामिल हैं – इलैगिक एसिड, गैलिक एसिड तथा टैनिन इत्यादि।

डा. हरिमोहन ने चूहों के यकृत (लीवर) पर गामा किरणों के विकिरण से पड़ने वाले हानिकारक प्रभावों के नियंत्रण में आंवले की भूमिका का अध्ययन विस्तृत ढंग से किया। डा. हरिमोहन ने इस विधि का उपयोग इस कारण किया क्योंकि गामा किरण तथा एक्स किरण जैसी उच्च ऊर्जा वाली विकिरण शरीर में विशद परिमाण में मुक्त मूलकों को उत्पन्न करती हैं।

गामा किरणों की बौछार जब शरीर की किसी जीवित कोशिका पर की जाती है तो

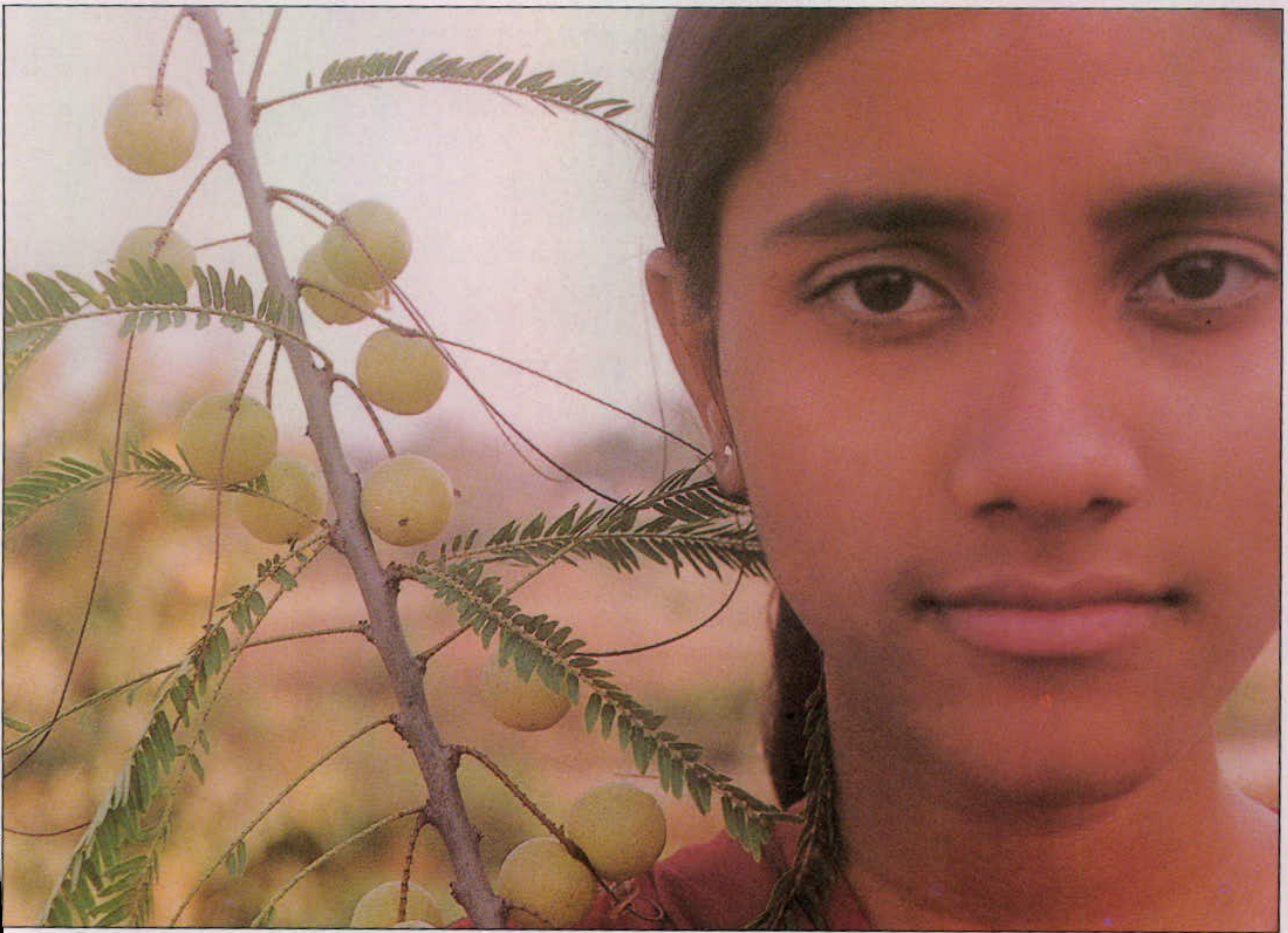

उसमें उपस्थित जल के अणु विघटित हो जाते हैं। इसके कारण हाइड्रोक्सिल मूलकों का निर्माण होता है। इसके साथ ही साथ अल्प परिमाण में ऑक्साइड, हाइड्रोजन पेरोक्साइड तथा हाइड्रोजन का भी निर्माण होता है। ये हाड्रोक्सिल मूलक शक्तिशाली आक्सिडेंट हैं जो ऊतकीय संरचना के साथ प्रतिक्रिया करते हैं। इन्हें सामूहिक रूप से

भारत में आंवले का उपयोग प्राचीन काल से होता आ रहा है तथा इसे अमृत फल की संज्ञा दी गई है। इसकी चर्चा हमारे देश के अधिकांश प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रंथों में की गई है। आयुर्वेद में चर्चित प्रसिद्ध औषधि त्रिफला का एक महत्वपूर्ण घटक आंवला ही है। इसी प्रकार, महर्षि च्यवनप्राश द्वारा अविष्कृत च्यवनप्राश का प्रमुख घटक आंवला है। कहा जाता है कि इसी च्यवनप्राश का सेवन कर च्यवन ऋषि वृद्ध से जवान हो गए।

प्रतिक्रिया कारक ऑक्सिजन स्पीशिज (रिऐक्टिव ऑक्सिजन स्पीशिज) या संक्षेप में आरओएस कहा जाता है। ये आरओएस प्रोटीन, एंजाइम, सेल मेम्ब्रेन तथा डीएनए को बुरी तरह नुकसान पहुंचाते हैं।

सभी प्राणियों की कोशिकाओं में एक एंटी ऑक्सिडेंट एंजाइम रहता है जिसे सुपर ऑक्साइड डिसम्यूटेज (एसओडी) कहा जाता है। यह एंजाइम मुक्त मूलकों के विघटन को उत्प्रेरित करता है। जब किसी प्राणी को गामा किरणों के विकिरण के प्रभाव में लाया जाता है तो शुरू में इस एंजाइम का स्तर बढ़ जाता है। परंतु जब विकिरण का परिणाम काफी बढ़ा दिया जाता है तो इस एंजाइम का स्तर घटने लगता है। ऐसा इस कारण होता है कि उच्च विकिरण के दौरान मुक्त मूलकों की संख्या बढ़ जाती है जिसके विघटन हेतु उपयोग होने के कारण एंजाइम की खपत भी बढ़ जाती है।

गामा किरणों द्वारा चूहों के यकृत को विकिरण के प्रभाव में लाने के दौरान एसओडी की क्रियाशीलता दो स्थितियों में जांची गई। पहली स्थिति थी आंवले के रस के साथ तथा दूसरी स्थिति थी आंवला रस की अनुपस्थिति में। देखा गया कि आंवला रस की अनुपस्थिति में एसओडी द्वारा प्रदान की गई प्रतिरक्षा कम थी। जैसे–जैसे आंवला रस की सांद्रता बढ़ाई गई, एसओडी द्वारा प्रदत्त प्रतिरक्षा उसी अनुपात में बढ़ती गई।

पर्यवेक्षणों से शोधकर्ताओं ने यह निष्कर्ष निकाला कि आंवला रस एक उत्तम एंटी ऑक्सिडेंट है जो मुक्त मूलकों को नष्ट करता है। यह रस एसओडी जैसे एंटी ऑक्सिडेंट एंजाइम को भी प्रतिरक्षा प्रदान करता है जो कोशिकाओं की सुरक्षा के लिए आवश्यक है।

जब विशुद्ध ऐस्कॉर्बिक एसिड तथा आंवला रस के एंटी–ऑक्सिडेंट गुणों की एक दूसरे से तुलना की गई तो पता चला कि आंवला रस अधिक प्रभावशाली था। इसकी वजह यह थी कि आंवला रस में ऐसकॉर्बिक एसिड के अतिरिक्त कुछ अन्य पोलीफेनॉल भी मौजूद हैं जो एंटी ऑक्सिडेंट गुणों के कारण अपना प्रभाव डालते हैं।

हाल में किए गए कुछ अन्य शोधों से पता चला है कि आंवले का सेवन मेलानोमा (त्वचा कैंसर) से भी सुरक्षा प्रदान करता है। इसी प्रकार, इसका सेवन अनेक प्रकार के कार्डिया–वैस्कुलर रोगों, श्वास संबंधी रोगों, लीवर सिरोसिस, गठिया तथा जोड़ों के दर्द (आर्थ्राइटिस) में भी लाभदायक पाया गया है।

अन्य उपयोग

आंवले के फल के अलावा इसकी लकड़ी भी भारतीय संदर्भ में महत्वपूर्ण है। यह छोटे आकार में उपलब्ध होती है। इसका रंग लाल, रेशे मजबूत सख़्त और घने होते हैं। चूंकि इसकी लकड़ी में बल पड़ने और दरारें पड़ने की शिकायत आम होती है, इसलिए इसे आमतौर पर जलाने के लिए ही प्रयोग किया जाता है।

आंवले का पेड़ घर–आंगन में, खेतों की मेंड़ों पर या सड़कों के किनारे लगाने से यह सजावट का काम करता है।

आंवले का पौधा इसके बीज (गुठली) को दबाने से पैदा होता है। अलबत्ता लगभग

आधुनिक चिकित्सा वैज्ञानिक भी आंवले पर गहन शोध में जुटे हुए हैं। इन शोधों से निष्कर्ष निकाला गया है कि आंवला शरीर के मोटापे को कम करता है, कोलस्ट्रॉल के स्तर को नीचे लाता है, मधुमेह तथा व्रण में लाभ पहुंचाता है तथा विषाणुओं (वायरस) एवं रोगोत्पादक जीवाणुओं के संक्रमण से बचाता है। इसके नियमित सेवन से स्मरण शक्ति में वृद्धि होती है। आंवले के फल का किसी भी रूप में प्रयोग करने से स्वास्थ्य लाभ होता है।

सभी प्रांतों की सरकारों के वन विभाग अपनी नर्सरियों में आंवले के पेड़ के पौधे काफी संख्या में उगाते हैं और रुचि लेने वाले ग्रामीणों या शहरी लोगों को केवल एक रुपया प्रति पौधे के रियायती दर पर उपलब्ध करवाते हैं।

चूंकि हमारे देश में पर्यावरण का हरण बढ़ने का भय है, इसलिए अधिक से अधिक ग्रामीणों के साथ–साथ नगरवासियों को भी इस वृक्ष के पौधे अधिक से अधिक संख्या में अपनी खाली भूमि पर, जहां कहीं भी स्थान दिखे, लगाने चाहिए। ❑

प्राध्यापक–भूगर्भ, इंजीनियरी कालेज,
भागलपुर–81321

राष्ट्रभाषा हिंदी पर कुछ विचार

डा. निशांत सिंह

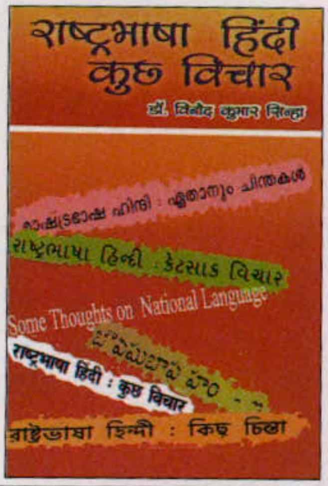

पुस्तक	: राष्ट्रभाषा हिंदी : कुछ विचार
लेखक	: डॉ. विनोद कुमार सिन्हा
प्रकाशक	: सन्मार्ग प्रकाशन, बैंग्लो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली–110007
पृष्ठ	: 134
मूल्य	: 125/– रुपये

स्वतंत्रता–प्राप्ति के लगभग दो वर्षों बाद 14 सितंबर, 1949 को संविधान–निर्माताओं ने संविधान के भाषा–प्रावधानों को अंगीकार किया और हिंदी को राजभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करते हुए यह उल्लेख किया कि 1965 तक देश के सारे कामकाज राष्ट्रभाषा में होने लगेंगे। लेकिन हिंदी को राजभाषा के रूप में पूर्णतः प्रतिष्ठित करने का हमारा सपना अधूर रह गया। अब 14 सितंबर केवल हमारी स्मृति में ही सुरक्षित है। हम अपनी कल्पना को साकार करने के लिए यह स्मृति–दिवस मनाते हैं। यह कल्पना हमारी स्मृति का स्वप्न बन गई है। स्वप्न की आयु कम होती है। स्मृति उम्रदराज होती है, वह हमेशा संचित रहती है। हिंदी की इसी स्मृति के तहत हम हर वर्ष 14 सितंबर को हिंदी के नाम पर हास्यास्पद उत्सव मनाते हैं, सरकारी रुपये फूंकते हैं, भाषण करते हैं और हिंदी के प्रसार का संकल्प लेते हैं लेकिन हिंदी व्यवहार में पूर्णतः उपेक्षित और तिरस्कृत है।

हिंदी के मामले में हम वास्तविकता से मुंह फेरे हुए हैं। हिंदी के साहित्यकारों तथा हिंदी भाषी आम आदमी को यह सोचना चाहिए कि आखिर हिंदी की क्या स्थिति है, वह किस रूप में है। आजादी के इतने वर्षों बाद भी सरकारी आश्वासनों के बावजूद हिंदी की प्रगति हुई है या दुर्गति!...... और हिंदी राजनीति के दुश्चक्र में क्यों फंसी हुई है? राष्ट्रभाषा हिंदी के संबंध में एतद्सदृश कुछ ऐसे जलते हुए सवाल हैं, जिन्हें *राष्ट्रभाषा हिंदी : कुछ विचार* नामक पुस्तक में विद्वान लेखक डा. विनोद कुमार सिन्हा ने उठाया है और उन पर गहराई से चिंतन और विचार–मंथन किया है।

जिस प्रकार हिंदी का शब्दकोश अत्यंत विशाल है, ठीक उसी प्रकार एक विषय के रूप में भी हिंदी अति–विस्तारित, विशद और बृहत है। इस अति–विस्तारित विषयवस्तु के सभी पक्षों, सभी आयामों को एक पुस्तक का रूप देना, मात्र कुछ अध्यायों में समेटना, वास्तव में एक कठिन कार्य है। लेकिन इस अत्यंत दुष्कर कार्य को कुशलता के साथ संपादित करने में लेखक डा. विनोद कुमार सिन्हा पूर्णतः सफल हुए प्रतीत होते हैं। लेखक ने संपूर्ण विषयवस्तु को कुल 17 अध्यायों में समेटकर अपनी कुशलता

सदस्यता कूपन

मैं/हम कुरुक्षेत्र का नियमित ग्राहक बनना चाहता हूं/चाहते हैं।

शुल्क : एक वर्ष के लिए 70/– रुपये का
दो वर्ष के लिए 135/– रुपये का
तीन वर्ष के लिए 190/– रुपये का

(जो लागू नहीं होता, उसे कृपया काट दें)

डिमांड ड्राफ्ट/भारतीय पोस्टल आर्डर क्रमांक .... दिनांक .... संलग्न है।

नाम (स्पष्ट अक्षरों में) ....

पता ....

....

पिन ....

इस कूपन को काटिए और इस पृष्ठ की पिछली ओर बने बाक्स के नं. 3 में दिए गए पते पर भेजिए।

और विद्वता का परिचय दिया है।

इसे हमारा दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि साहित्य और हिंदी लेखन आज राजनीति के वात्याचक्र में फंस चुका है। राजनीति के अनैतिक आग्रहों ने हिंदी की चिंदी-चिंदी कर दी है। 'राजनीति के वात्याचक्र में फंसी हिंदी' नामक अध्याय में लेखक ने राजनीति और हिंदी के संबंधों एवं हिंदी पर राजनीति के कुप्रभावों की भी मीमांसा की है, निष्पक्षता से विश्लेषण किया है। हिंदी के नाम पर उसके पक्ष और विपक्ष में की जाने वाली राजनीति को न केवल रेखांकित करने बल्कि उसका खुलासा करने के लिए लेखक को साधुवाद दिया जाना चाहिए।

हिंदी बनाम उर्दू का विवाद काफी पुराना है लेकिन लेखक ने दोनों भाषाओं को परस्पर संबंधित बताते हुए और प्रगतिशील विचारकों की परंपरा का अनुकरण करते हुए इस विवाद को खारिज कर दिया है। डा. सिन्हा का कहना है कि हिंदी और उर्दू, परस्पर एक-दूसरे पर आश्रित हैं और एक के बिना दूसरी का निर्वाह असंभव है। उर्दू को हिंदी की बेटी की उपमा देते हुए लेखक कहते हैं कि हिंदी की गोद में ही उर्दू पुष्पित-पल्लवित हुई है। भाषायी कट्टरता को छोड़ते हुए, उसे त्याज्य समझते हुए लेखक ने राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी के विकास में अहिंदी भाषियों के योगदान को भी खुलेपन से स्वीकारा है। इस प्रकार की साफगोई का आज के हिंदी विद्वानों में नितांत अभाव है।

राष्ट्रभाषा हिंदी : कुछ विचार में भाषा की प्रांजलता और एक सिरे से दूसरे सिरे तक तथ्यों व कथ्यों की तारतम्यता, प्रशंसनीय है। पुस्तक में साहित्य, पांडित्य और लालित्य का अदभुत संगम देखने को मिलता है। उपयोगिता और उपादेयता की दृष्टि से पुस्तक महत्वपूर्ण है। पुस्तक में पिछले पचास सालों के दौरान हिंदी की प्रगति (अथवा दुर्गति) का विश्लेषण तो किया ही गया है, साथ ही नई सहस्राब्दि में राष्ट्रभाषा हिंदी की संभावनाओं पर भी विशेषज्ञ-टिप्पणी की गई है जिस कारण पुस्तक, आम पाठकों के साथ-साथ हिंदी के शोधकर्ताओं और अध्येताओं के लिए संग्रहणीय बन गई है। एक संदर्भ ग्रंथ के रूप में भी पुस्तक का अवलोकन किया जा सकता है।

लेखक का मानना है कि जहां तक हिंदी के व्यापक प्रचार-प्रसार का प्रश्न है, स्थिति निराशाजनक नहीं है। इक्कीसवीं शताब्दी हिंदी के लिए नई आशा, नई आस्था, नए विश्वास और नई संभावनाओं से प्रकाशवान है। यह तेजी के साथ अंतरराष्ट्रीय स्तर पर फल-फूल रही है, इसकी जड़ें मजबूत हो रही हैं। यह विश्व के 37 देशों के 110 विश्वविद्यालयों तथा संस्थानों में पढ़ी-पढ़ाई जाती है। लेकिन इस सदी में बाजारवाद के बढ़ते प्रभाव और इलेक्ट्रोनिक मीडिया का वर्चस्व बहुत तेजी से सांस्कृतिक प्रदूषण फैला रहे हैं। इस अपसंस्कृति से हिंदी का अहित होगा, इससे हिंदी को बचाने के लिए हमें प्रयास करना होगा। यह सवाल केवल संस्कृति का नहीं है, बल्कि भाषा का भी प्रश्न है। कोई भी भाषा अपने देश की संस्कृति से गहरे जुड़ी होती है। जब संस्कृति में प्रदूषण के कीटाणु प्रवेश करेंगे, तो हमारी भाषा पर खतरा पैदा होगा।

हिंदी में हमारे देश की संस्कृति की चेतना का स्पंदन भी है। भारतीय संस्कृति और हिंदी भाषा व साहित्य दोनों का अन्योन्याश्रय संबंध है। अगर बाजारवाद और पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव बढ़ेगा तो उसका कुप्रभाव हिंदी पर भी पड़ेगा, इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता। इसलिए नई सहस्राब्दी में हिंदी भाषा-भाषी समाज को अपनी सांस्कृतिक अस्मिता की रक्षा के लिए नया संकल्प लेना होगा, तभी हिंदी के वृक्ष की जड़ें मजबूत होंगी और वह विशाल वटवृक्ष की शक्ल अख्तियार करेगा। इसी प्रकार के और भी कई सुझाव, और भी कई संभावनाएं, प्रस्तुत पुस्तक में समेटी गई हैं। ❑

**3/17, 400 के.वी. सब-स्टेशन,
मुरादनगर (गाजियाबाद) उ.प्र.-201 206**

1. हम दिल्ली से *योजना* **अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, पंजाबी और उड़िया में**
कुरुक्षेत्र **हिन्दी और अंग्रेजी में**
आजकल **हिन्दी और उर्दू में**
और बच्चों की पत्रिका *बाल भारती* **हिन्दी में** प्रकाशित करते हैं।
2. डिमांड ड्राफ्ट/पोस्टल आर्डर निदेशक प्रकाशन विभाग को नई दिल्ली में देय होना चाहिए।
3. यह कूपन विज्ञापन और प्रसार संख्या व्यवस्थापक, प्रकाशन विभाग, पूर्वी खंड 4, लेवल-7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली-110066 के पते पर भेजिए।
4. सदस्य बनने के लिए आप हमारे निम्नलिखित केन्द्रों पर भी सम्पर्क कर सकते हैं :
प्रकाशन विभाग : पटियाला हाउस, तिलक मार्ग, नई दिल्ली-110001; सुपर बाजार (दूसरी मंजिल), कनाट सर्कस, नई दिल्ली-110001; कामर्स हाउस, करीमभाई रोड, बालार्ड पायर, मुंबई-400038; 8, एस्प्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता-700069; राजाजी भवन, बेसेंट नगर, चेन्नई-600090; बिहार राज्य सहकारी बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना-800004; निकट गवर्नमेंट प्रेस, प्रेस रोड, तिरुअनंतपुरम-695001; 27/6, राम मोहन राय मार्ग, लखनऊ-226019; राज्य पुरातत्वीय संग्रहालय बिल्डिंग, पब्लिक गार्डन्स, हैदराबाद-500004; प्रथम तल, 'एफ' विंग, केंद्रीय सदन, कोरा मंडल, बंगलौर-560034; सम्पादक, पेयोभरा, नौझम रोड, उजान बाजार, गुवाहाटी-1; सम्पादक, योजना (गुजराती), राम निवास, पालदी बस स्टाप के पास सरखेज रोड, अहमदाबाद
पत्र सूचना कार्यालय : सी.जी.ओ. काम्पलेक्स, 'ए' विंग, ए.बी. रोड, इंदौर (म.प्र.); 80, मालवीय नगर, भोपाल-462003; के-21, नंद निकेतन, मालवीय मार्ग, 'सी' स्कीम, जयपुर-302003
5. शुल्क प्राप्त होने के बाद नियमित रूप से पत्रिका के अंक मिलने शुरू होने में आठ से दस सप्ताह का समय लगता है।

(कवर दो का शेष)

जनाकांक्षाओं और लोगों की जरूरतों को पूरा करने के उद्देश्य से विकास कार्यक्रमों के निरूपण और उनके कार्यान्वयन की प्रक्रिया को स्थानीय स्वशासन के जरिये विकेंद्रित करने के लिए बुलाए जाने वाले इस अखिल भारतीय पंचायती राज सम्मेलन को प्रधानमंत्री संबोधित करेंगे।

श्री नायडू ने बताया कि ग्रामीण लोगों के स्वरोजगार के लिए चलाए जा रहे विभिन्न कार्यक्रमों को एक कार्यक्रम के तहत ले आया गया है। स्वर्णजंयती ग्राम स्वरोजगार योजना नामक यह समेकित रोजगार कार्यक्रम वस्तुतः गांवों के निर्धन बेरोजगारों के लिए अनुदान और ऋण का समन्वित कार्यक्रम है। स्वर्णजयंती ग्राम स्वरोजगार योजना के तहत ग्रामीण इलाकों में गरीबी रेखा से नीचे के निर्धन परिवारों को स्वरोजगार शुरू करने के लिए सहायता दी जाती है।

उल्लेखनीय है कि इस योजना के लाभार्थियों को स्वरोजगारी कहा जाता है। वे अपना निजी काम शुरू कर सकते हैं अथवा कुछ लोग मिलकर सामूहिक रूप से कोई रोजगार आरंभ कर सकते हैं। ऐसे समूह को स्व–सहायता समूह कहते हैं। सफल स्वरोजगार के लिए जरूरी है कि सही उद्यम का चयन किया जाए। इसके लिए सरकारी अधिकारियों, गैर–सरकारी व्यक्तियों और बैंककर्मियों की मदद से प्रत्येक प्रखंड के लिए चार–पांच तरह की गतिविधियों का चयन किया जाता है। इन्हें प्रमुख गतिविधियां कहा जाता है। ये गतिविधियां ऐसी होनी चाहिए कि उनसे स्वरोजगारियों को बैंक ऋण आदि का भुगतान करने के बाद कम–से–कम 2,000 रुपये मासिक आय प्राप्त हो सके। इसके तहत किसी एक व्यक्ति को 50 हजार रुपये तथा स्व–सहायता समूह को तीन लाख रुपये तक का ऋण दिया जाएगा। इसमें से परियोजना लागत का 30 प्रतिशत अनुदान के रूप में होगा। लेकिन यह अनुदान अधिक से अधिक 7,500 रुपये तक होगा।

अनुसूचित जाति और जनजाति के लाभार्थियों के लिए अनुदान की यह सीमा परियोजना लागत का 50 प्रतिशत होगी जो 10,000 रुपये से ऊपर नहीं होगी। इसी तरह, स्व–सहायता समूहों के लिए भी अनुदान 50 प्रतिशत अथवा 1.25 लाख रुपये, इनमें से जो भी कम हो, होगा। यदि किसी व्यक्ति ने पूर्व में किसी स्वरोजगार कार्यक्रम के तहत ऋण लिया है और उस पर बैंक का अधिकतम 5,000 रुपये तक बकाया है तो उसे चूककर्ता नहीं माना जाएगा। यदि उस व्यक्ति ने ऋण संबंधी अन्य शर्तें पूरी कर ली हैं तो बैंक उसे ऋण देने के लिए बाध्य होगा। ऐसे व्यक्ति से पुरानी बकाया राशि नए ऋण की किश्तों के साथ ली जाएगी।

सम्मानपूर्ण जीवन प्रत्येक नागरिक का अधिकार है। लेकिन गरीबी इस सम्मानित जीवन के मार्ग में एक बड़ा अवरोध है। गरीबी की बेड़ियों से मुक्त करने और नियमित आय अर्जित करने की दिशा में स्वरोजगार एक महत्वपूर्ण कदम है। समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम जैसे पूर्ववर्ती कार्यक्रम सभी जरूरतों को पूरा कर पाने में समर्थ नहीं थे। अतः सरकार ने अब स्वर्णजयंती ग्राम स्वरोजगार योजना नामक एक प्रभावी कार्यक्रम शुरू किया है।

प्रभावी स्वरोजगार का अभिप्राय सही काम अथवा गतिविधि का चुनाव भर नहीं है, बल्कि उसे सही तरीके से संपादित करना भी है। स्वरोजगार में कच्चामाल प्राप्त करना, उत्पादन करना, उनका विपणन करना और वित्त प्रबंध शामिल हैं। किसी अकेले स्वरोजगारी के लिए यह सब कार्य संभाल पाना मुश्किल होगा। अतः उचित यह होगा कि ऐसे लोग मिलकर अपना समूह गठित करें – इसे स्वसहायता समूह कह सकते हैं। स्वर्णजयंती ग्रामीण स्वरोजगार योजना सक्रियतापूर्वक ऐसे स्वसहायता समूहों को प्रोत्साहन देती है। सफल और काम करने में सक्षम स्वसहायता समूह के गठन में थोड़ा समय लग सकता है, लेकिन इसके गठन से होने वाले फायदे दीर्घकालिक होंगे।

इस अवसर पर ग्रामीण विकास मंत्री ने बताया कि देश में लगभग 30 हजार पंजीकृत कंपनियां और करीब छह लाख गांव हैं। यदि एक कंपनी कम–से–कम एक गांव को भी गोद ले ले और वहां मौलिक सुविधाओं, प्रशिक्षण और रोजगार की व्यवस्था करे तो अमीरी–गरीबी का अंतर शीघ्र दूर हो सकता है। श्री नायडू ने कहा कि इसके लिए एसोचैम और सीआईआई के माध्यम से कारपोरेट घरानों के साथ बातचीत शुरू की गई है ताकि ग्रामीण विकास के लिए सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों के बीच प्रभावी सहयोग स्थापित किया जा सके। ❑

प्रस्तुति : राकेश रेणु

आर. एन. / 708 / 57
डाक–तार पंजीकरण संख्या : डी (डी.एल.) 12057 / 2001
आई.एस.एस.एन. 0971–8451, पूर्व भुगतान के बिना आर.एम.एस. दिल्ली में
डाक में डालने के लिए लाइसेंस : यू (डी.एन.)–55 / 2001

R.N./708
P&T Regd. No. D(DL) 12057/2
ISSN 0971-8451, Licenced under U (DN)-55/2
to Post without pre-payment at R.M.S. D

महानिदेशक, प्रकाशन विभाग, पटियाला हाऊस, नई दिल्ली–110001 द्वारा प्रकाशित और मुद्रित।
मुद्रक : अरावली प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स प्रा. लि., डब्ल्यू–30 ओखला इन्डस्ट्रीयल एरिया–II, नई दिल्ली–20 : **कार्यकारी संपादक : राकेश रेणु**